H
294.14 Sa 21 U

उपनिषद् वाहिनी

H
294.14
Sa21U

उपनिषद् वाहिनी

[अमृतमय ब्रह्मज्ञानोपदेश]

भगवान श्री सत्यसाई बाबा

प्रकाशक : श्री सत्य साई बुक्स एण्ड पब्लिकेशन्स ट्रस्ट (दिल्ली)
ब्लाक 'ए' कालकाजी ऐक्सटैंशन एरिया, नई दिल्ली - 110019

H
294.14
Sa 21 U

अनुवाद : ना० सु० रा० गणाते

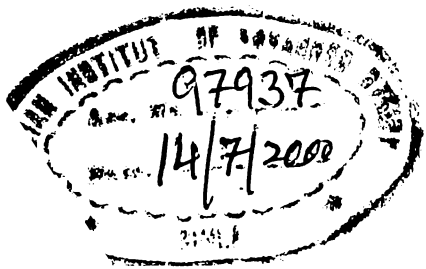

मूल्य : 11 रुपये

मुद्रक : कंवल किशोर एण्ड कम्पनी, 18/2826, बीडनपुरा,
करोल बाग, नई दिल्ली - 110005 फोन : 5724370

विषय-सूची

क्रम		*पृष्ठ*
प्रथम सम्बोधन	उपनिषद् की उत्पत्ति	५
दूसरा सम्बोधन	ईशावास्योपनिषद्	१३
तीसरा सम्बोधन	कठोपनिषद्	१९
चौथा सम्बोधन	मुण्डकोपनिषद्	२६
पांचवाँ सम्बोधन	माण्डूक्योपनिषद्	३२
छठा सम्बोधन	बृहदारण्यकोपनिषद्	४०
सातवाँ सम्बोधन	प्रश्नोपनिषद्	५०
आठवाँ सम्बोधन :	केनोपनिषद्	५७
नवाँ सम्बोधन :	छान्दोग्योपनिषद्	६४
दसवाँ सम्बोधन	ऐतरेयोपनिषद्	७२
ग्यारहवाँ सम्बोधन :	तैत्तारीयोपनिषद्	७९
बारहवाँ सम्बोधन	ब्रह्मानुभव उपनिषद्	८७

दो शब्द

यह हमारा परम सौभाग्य है कि भगवान श्री सत्य साई बाबा हम लोगों के मध्य में मनुष्य रूप में विद्यमान हैं। सत्य, धर्म, शान्ति और प्रेम की स्थापना के लिए वे प्राचीन व अर्वाचीन अर्थात् सनातन धर्म व विज्ञान माध्यमों का उपयोग कर रहे हैं। वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की उन्नति के लिए ये आधारशिलाएँ हैं। बाबा के लेख, भाषण व सम्भाषण पग पग पर हमारा उचित पथ-प्रदर्शन करते हैं और आध्यात्मिक क्षेत्र तथा विज्ञान को उचित रूप से ग्रहण करने में समर्थ बनाते हैं।

वर्तमान पुस्तक बाबा ने तेलुगु में 'सनातन सारथी' में लेखमाला क्रम के रूप में लिखी थी। बारह उपनिषद् आध्यात्मिक ज्ञान तथा जीवन के लक्ष्य प्राप्ति के उच्चतम् साधन हैं और बाबा ने महती कृपा करके उनको सरल सुबोध तथा संक्षिप्त रूप से तेलुगु भाषा में लिखा था।

उपनिषदों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर हम शनैः शनैः आगे बढ़ें तथा महर्षियों व मुनियों ने ज्ञान का अगाध भण्डार छोड़ा है हम उसका उचित उपयोग कर सकें उसे ही बाबा ने दर्शाया है।

यह ग्रन्थ, जो मूल तेलुगु भाषा से अनूदित है और यत्र-तत्र श्री एन. कस्तूरी द्वारा अंग्रेजी अनुवाद पर भी आश्रित है। इसका मनोयोग पूर्वक अध्ययन करके उसे अपने व्यवहारिक जीवन में अपनाएँ।

—प्रकाशक

ॐ

उपनिषद् की उत्पत्ति

पहला सम्बोधन

मानव परब्रह्मस्वरूप होने पर भी पंचभूतों से ओतप्रोत होने के कारण जीव कहलाता है। जीव पंचभूतों से ओतप्रोत होने के कारण ही अपने को सीमित तथा क्षणिक मानता है और इस भ्रान्ति के कारण उसे जनन—मरण, सुख—दुख, पाप—पुण्य आदि भोगने पड़ते हैं, जिस से जीव अज्ञान में ग्रस्त हो अपने सत्य स्वरूप को समझ नहीं पाता। इन पंचभूतों से दूर रह कर जीव का स्वतंत्र हो जाना ही कैवल्य, मोक्ष या मुक्ति है। कैवल्य, मोक्ष या मुक्ति ये तीनों शब्द एक ही अर्थ बोधक हैं, केवल इनके नाम भिन्न-भिन्न हैं। पंचभूतों में ओतप्रोत तथा पंचभूतों से निर्मित जीव धन, वाहन, भूमि, सम्पत्ति आदि वस्तुओं के पीछे भागता रहता है और उनके प्राप्त न होने पर निराश हो जाता है। कभी-कभी उन पर मोहित हो उन्हें अपनाने के निमित्त तप कर बैठता है, तो कभी उनका ही द्वेष कर निश्चिन्त रह जाता है।

जीव का आधार भूमि है, भूमि का आधार जल है, जल का जन्म स्थान अग्नि है, अग्नि वायु से बनती है, वायु आकाश में होता है तथा आकाश प्रकृति से उत्पन्न होता है। वह मूल प्रकृति परमात्मा से बनती है; अतः इन समस्त भूतों का मूल स्थान परमात्मा ही है।

उन मूल स्थान वाले परमात्मा में विलीन हो जाने के निमित्त पंचभूतों में ओतप्रोत जीव को नित्यानित्य के विचार तथा अभ्यास— वैराग्य के द्वारा क्रमशः एक-एक भूत का परित्याग करते हुए अपने उस मूल स्थान पर ब्रह्म को प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को साधक कहते हैं। इस प्रकार मुक्त हुए जीव को ही जीवनमुक्त कहा जाता है।

नित्यानित्य विचार का तथा अपने स्वरूप के सन्दर्शन का यदि कोई आधार भूत है, तो वह उपनिषद् ही वेदान्त कहे जाते हैं; जो केवल वेद के ज्ञान काण्ड का बोध कराते हैं। ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति सम्भव है, इसी कारण उपनिषद् में बताया गया है— "ज्ञानादेवतु कैलव्यम्।" याने ज्ञान से ही कैवल्य है।

"काण्डत्रयात्मकम् वेदम्।" याने वेद तीन काण्डों वाला है। वेदों के जैसे ही उपनिषद् भी तीन काण्ड वाले होते हैं जो ज्ञानकाण्ड, उपासना काण्ड तथा कर्म काण्ड हैं। ये तीनों काण्ड अपनी-अपनी दृष्टि में क्रमशः अद्वैत, द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत मत प्रधान होते हैं। "उपनिषदों" में अटल निष्ठा, "ब्रह्मविद्या" से निदिध्यास तथा "योग शास्त्र" से मनन को ग्रहण करना चाहिए। उन सब का क्या प्रयोजन है? किसे जाना जाता है? अपनी निज स्थिति, उसका स्वरूप तथा उसे पहचानने के मार्ग आदि विषयों को समझ लेने में उपनिषद् अपूर्व सहायक सिद्ध होते हैं; इसी कारण उपनिषद् नाम पड़ा है। वास्तव में उपनिषद् का अर्थ सारगर्भित है। 'उप' का अर्थ समीप है, 'नि' का अर्थ है निष्ठा पूर्वक श्रवण तथा उसके द्वारा अज्ञान को दूर करना तथा 'षद्' का अर्थ है परमात्मा की प्राप्ति में सहायक होना, याने परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त सुयोग्य गुरु के निकट बैठ कर ज्ञानार्जन करना। इसी कारण ही ब्रह्मविद्या के इस शास्त्र को "उपनिषद्" कहा जाता है।

उपनिषद् केवल 'विद्या' का ही बोध नहीं कराते अपितु उपदिष्ट विद्या को अपने आचरण में लाने की प्रक्रिया का भी बोध कराते हैं। जिन कर्म विधानों को धर्म पूर्वक करना चाहिए, केवल उन्हीं का ही बोध न कराके ये यह भी बताते हैं कि कौन-कौन से कर्म करने योग्य हैं तथा कौन-कौन से कर्म त्याज्य हैं।

वास्तव में भगवद्गीता का जो विषय है वह उपनिषद् का ही सार है। क्यों है न ऐसा ही! उपनिषदों के श्रवण से जो फल मिलता, वही फल केवल गीता का श्रवण करने से अर्जुन को प्राप्त हो गया था। उपनिषद् का ही 'तत्त्वमसि' का भाव गीता में 'पांडवानाम् धनंजय' वाले वाक्य के द्वारा व्यक्त किया गया है। याने पाण्डवों में तुम, धनंजय अर्जुन, मैं ही हूँ। यों कृष्ण परमात्मा ने जीव तथा ईश्वर की एक रूपता का बोध कराया है। इस प्रकार गीता एवं उपनिषदों में अद्वैतामृत का ही निरूपण होता है, न कि द्वैत या विशिष्टाद्वैत का। कम से कम अणुमात्र भी द्वैत या विशिष्टाद्वैत की पुष्टि के सम्बन्ध में कहीं भी नहीं बताया गया है। सूर्य मण्डल का परिशीलन करने की शक्ति या सामर्थ्य जैसे मनुष्य के नेत्रों में नहीं है, जिस के कारण वैज्ञानिक दूरबीन (टेलिस्कोप) खुर्दवीन (माइक्रॉस्कोप) आदि यन्त्रों की सहायता ले अन्वेषण करते हैं, वैसे ही नैतिक धर्म तथा अध्यात्मिक धर्म के अनुसरण एवं पालन से जिन महापुरुषों की चित्तशुद्धि हुई है, वे अपने ज्ञानचक्षु से परमेश्वर को देख पाते हैं। सूक्ष्म क्रियाओं को तथा अणुतुल्य छोटी-छोटी वस्तुओं को देख पाने में असमर्थ मानव नेत्र जैसे यन्त्रों की सहायता लेते हैं, वैसे ही सर्वव्यापक परमात्मा को देखने की आकांक्षा रखने वाले यदि मन्त्रों की सहायता न लें, तो वह कैसे दिखाई पड़ेगा? ज्ञानचक्षु को प्राप्त करना सुगम नहीं है। उसके लिए तो एकाग्रता परमावश्यक है। एकाग्रता प्राप्ति के निमित्त चित्तशुद्धि तथा नैतिक व अध्यात्मिक

विवेक अत्यावश्यक हैं। सामान्य मनुष्यों के लिए यह उतना सुलभ नहीं है।

अन्य समस्त जीवधारी प्राणियों में जैसे मनुष्य को भी निरा मूर्ख न बनाकर परमात्मा ने उसे हर प्रकार का विज्ञान प्रदान किया है, जिस की वृद्धि करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। अविज्ञान के कारण प्रत्येक आत्मा में परमेश्वर का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है, अतः अविवेकी व्यर्थ का वाद विवाद करते तथा यह प्रश्न कर बैठते हैं कि भगवान कहाँ है? यदि है तो दिखाई क्यों नहीं देता? इत्यादि। इन प्रश्नों के द्वारा वे अपनी अज्ञानता का ही प्रदर्शन करते हैं। यह तो पहले क, ख, ग सीखने का बिना कष्ट किये ही बी०ए०, एम०ए० की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने की आकांक्षा करने की मूर्खता के समान है। किसी प्रकार की साधना के बिना यों ही वाद विवाद करना, जैसे भगवान कहाँ है? वह क्यों नहीं दिखाई देता इत्यादि, निरी मूर्खता है; जो व्यक्ति नैतिक आचरण व धर्म का पालन करता है, वह इस प्रकार का मूर्खतापूर्ण वाद विवाद नहीं करता। नैतिक धर्माचरण के बिना इस प्रकार के प्रश्न उठाना एवं वाद विवाद करना व्यर्थ तथा अर्थहीन है। ऐसे व्यक्तियों को सुनना नहीं चाहिए। धर्म शास्त्रों पर आधारित है, वह केवल तर्क से अथवा मांगने से नहीं मिलता। समस्त शास्त्रों के मुख्य सिद्धान्त तथा उनके सार उपनिषदों में वर्णित हैं; अतः इन सब के लिए उपनिषद् ही प्रमाण है। वे पवित्र उपनिषद् मानव रचित नहीं; अपौरुषिक हैं, याने आदिकाल से ही प्रचलित हैं। ये उपनिषद् वेदों के उपांग हैं, याने वेद के कुछ चुने हुए अंग हैं, इस प्रकार के अनेक अंगों से वेद पूर्ण हैं, अतः उपनिषदों का आधार तथा प्रमाण वेद ही हैं। वे वेद केवल चार ही हैं, अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अर्थववेद। इस प्रत्येक वेद से अनेक उपनिषद् पृथक किये गये। इस प्रकार पृथक किये गये उपनिषदों की

कुल संख्या ११८० रही, परन्तु काल के बीतने के साथ विस्मृति के द्वारा उपनिषदों की संख्या घटती ही गई, याने उपनिषद् क्रमशः कम होते गये। अब जो शेष रहे वे केवल १०८ ही हैं। इन में भी केवल दस उपनिषद् ही अधिक प्रचलित तथा व्यवहार में हैं, अन्य केवल नाम मात्र के लिए हैं। व्यास महर्षिजी ने शुक्ल यजुर्वेद से माण्डुक्योपनिषद् को पृथक निकाल कर लिखते समय यह भी लिखा है कि किस-किस वेद से कौन-कौन से उपनिषद् पृथक किये गये। उन्होंने लिखा है कि ऋग्वेद की इक्कीस शाखायें हैं। प्रत्येक शाखा का एक उपनिषद् बना, इस तरह ऋग्वेद के कुल इक्कीस उपनिषद् हैं। यजुर्वेद की एक सौ नौ साखाएं हैं, उसकी प्रत्येक शाखा का एक-एक उपनिषद् बना, अतः यजुर्वेद के एक सौ नौ उपनिषद् हैं। इसी प्रकार सामवेद की एक हजार शाखाओं के एक हजार उपनिषद् तथा अथर्ववेद के पचास शाखाओं के पचास उपनिषद् हैं। इस प्रकार चारों वेदों की एक हजार एक सौ अस्सी शाखाओं के एक हजार एक सौ अस्सी उपनिषद् विभाजित किये गये। शंकराचार्य जी ने इन सब उपनिषदों के सार रूप में दस उपनिषदों को प्रमुख माना था और इन दस उपनिषदों के ही भाष्य लिखे थे; क्योंकि ये दस उपनिषद् अन्य समस्त उपनिषदों के आधार स्वरूप हैं, अर्थात इन दशोपनिषद् में जो भी विषय बताये गये हैं, वे ही विषय अन्य उपनिषदों में मिलते हैं। मानव का उत्थान और पतन इन दसों उपनिषदों पर आधारित हैं।

आस्तिक तथा वेद पण्डितों के मन में यह शंका व भय पैदा हो गया है कि कहीं ये दस शेष वेदोपनिषद् भी अलभ्य न हो जावें, अन्यथा नैतिकता व धार्मिकता का प्रलय हो जायेगा। परन्तु उन्हें इस प्रकार शंका करने की आवश्यकता नहीं है; परमात्मा यह होने न देगा। इसकी चिन्ता स्वयं भगवान को भी है। इसी कारण भगवान

बार-बार अनेक रूपों में अवतार लेकर वेद एवं धर्म का उद्धार करते हैं। वेदों की हानि कदापि न होगी। हाँ, इन शेष दशोपनिषदों को संसार भर में प्रचलित करने का व्रत पण्डितों तथा आस्तिकों को ठान लेना चाहिए। ये दशोपनिषद हैं— ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्य।

शेष अट्ठानवे उपनिषदों के नाम निम्न प्रकार हैं—

१.	ब्रह्म	१९.	कालाग्नि रुद्र
२.	कैवल्य	२०.	सुलभ
३.	श्वेताश्व	२१.	मांत्रिक
४.	जाबालि	२२.	क्षिति
५.	हंस	२३.	निरालम्ब
६.	गर्भ	२४.	सर्वहर
७.	अरुणि	२५.	वज्रसूचिका
८.	परमहंस	२६.	शुभरहस्य
९.	अमृतनाद	२७.	तेजोबिन्दु
१०.	नारायणि	२८.	नादबिन्दु
११.	अमृतबिन्दु	२९.	ध्यानबिन्दु
१२.	अधर्वशिखा	३०.	ब्रह्मविद्या
१३.	अधर्व शिर	३१.	आत्मबोधक
१४.	कासितार	३२.	योगतत्व
१५.	मैत्रायिणि	३३.	नारद परिब्राजक
१६.	नृसिंहतथिनि	३४.	ब्राह्मण
१७.	बृह्मजाबाल	३५.	सीता
१८.	मैत्रेयि	३६.	योग चूड़ामणि

३७. निर्वाण
३८. मण्डल
३९. दक्षिणामर्ति
४०. स्कन्द
४१. शरभ
४२. अद्वैत
४३. तारक
४४. महानारायण
४५. सौभाग्य लक्ष्मि
४६. सरस्वती रहस्य
४७. मुक्तिक
४८. भावरिच
४९. रामतपन
५०. रामरहस्य
५१. मुद्गलि
५२. वासुदेव
५३. पिंगल
५४. शाण्डील्य
५५. महाभिक्षुक
५६. योगशिक्षा
५७. सन्यास
५८. तुरियातीत
५९. परमपरिव्राजक
६०. नृसिंह
६१. अक्षमालिका
६२. अन्नपूर्णा
६३. एकाक्षर
६४. अक्षिक
६५. अध्यात्म
६६. अध्यात्म
६७. सूर्य
६८. कुण्डिकादृव्य
६९. आत्मा
७०. सावित्रि
७१. परब्रह्म
७२. पाशुपत
७३. त्रिपुरतपन
७४. अवधूत
७५. त्रिपुर
७६. देवि
७७. भावन
७८. कथ
७९. योगकुण्डलि
८०. रुद्रहृदय
८१. रुद्राक्ष
८२. भस्म
८३. दर्शन
८४. गणपति
८५. ताहशव
८६. महावाक्य
८७. पंचब्रह्म
८८. गोपालतयनि

८९.	प्राणाग्निहोत्र	९४.	याज्ञवल्क्य
९०.	गरुड	९५.	सत्यायन
९१.	कृष्ण	९६.	अव्यक्त
९२.	दत्तात्रय	९७.	हयग्रीव
९३.	वराह	९८.	कलिसन्तरण

इस प्रकार के और भी अनेक उपनिषद् हैं किन्तु वे सब व्यवहार में नहीं रहे तथा बहुत विस्मृत भी हो गये हैं।

इन सभी उपनिषदों का अध्ययन करना समय को व्यर्थ करना है। समझदार के लिए एक ही उपनिषद् पर्याप्त है। अनुभवी के लिए सभी उपनिषद् एक ही हैं। सार को ले भार को छोड़। वास्तव में उपनिषदों के आधार पर ही भूगोल, ज्योतिष, अर्थ आदि शास्त्र: स्कन्द, शिव, गरुड़, विष्णु आदि आठरह पुराण; तान्त्रिक, मान्त्रिक, भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि, समस्त योग इत्यादि महर्षियों ने बनाकर लोक में प्रचालित किये हैं।

वेदोपनिषद् ही सनातन मत (धर्म) है। इस सनातन धर्म में एक विचित्रता है कि अन्य सम्प्रदायों के जैसे हमारे अपने भारतवर्ष के सनातन धर्म का कोई विशेष संस्थापक नहीं है। हमारे धर्म के संस्थापक तथा धर्म-गुरु ज्ञान स्वरूप स्वयं ईश्वर ही हैं। वही हमारे उपदेशक भी हैं। उन से ही अनुग्रहित, उनके ही अंशरूप में तथा उन्हीं में लीन रहने वाले महर्षि हमारे धर्म के प्रवक्ता हैं, अतः मानव के नैतिक धर्म की अवनति होते ही हमारे भारतवर्ष के किसी न किसी भाग में सच्चिदानन्द ज्ञानस्वरूपी माधव ही मानव रूप में अवतार ले धर्म की रक्षा करते हैं। इस सत्य का ज्ञान किसी भी एक उपनिषद् के अध्ययन से मानव पा सकते हैं।

ईशावास्योपनिषद्

दूसरा सम्बोधन

लोकोद्धारक परमात्मा ने लोक कल्याणार्थ हिरण्यगर्भ के द्वारा वेद प्रदान किये। हिरण्यगर्भ ने अत्रि, मरीचि आदि अपने दस मानस पुत्रों को परमात्मा के प्रसाद स्वरूप इन पवित्र वेदों का बोध किया। उनके शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा के द्वारा समस्त वेद लोक में प्रचलित हुए। इस प्रकार काल बीता, युग-युग बीते, जगत में प्रचलित इन वेदों में कुछ खो गये, कुछ कठिन हो चले तथा कुछ व्यवहार में न रहे। इस प्रकार कुछ छूट जाने पर अब केवल चार वेद शेष रह गये हैं। द्वापर युग में वेद विस्तरण कर्ताओं में अग्रगण्य महर्षि वेदव्यास जी ने अपने शिष्यों को ये शेष चार वेद पढ़ाए।

इस प्रकार जब व्यास जी वेदाध्यापन में मग्न थे, तब उनके शिष्यों में एक याज्ञवल्क्य अपने गुरु के क्रोध का पात्र हुआ, अतः दण्ड स्वरूप उसने अपने गुरु से प्राप्त यजुर्वेद वापस कर देने के निमित्त वमन कर निकाल कर सूर्य भगवान की शरण में चला गया। सूर्य भगवान तो समस्त वेदों की निधि थे ही, ठीक उसी समय वेदों पर आस्था रखने वाले महापुरुष तित्तिरि (तीतर) नामक पक्षी के रूप में वहाँ आकर उस यजुर्वेद को, जो याज्ञवल्क्य ने वमन किया था, भक्षण कर चले गये। इसी कारण उस यजुर्वेद को "तैत्तिरीय" भी कहा जाता है।

तदनन्तर याज्ञवल्क्य की श्रद्धा-भक्ति से प्रभावित हो सूर्य भगवान बाजि (घोड़े) के रूप में प्रकट हो यजुर्गणों का बोध किया।

जिसे याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों को पढ़ाया। इसी कारण इस शास्त्र का नाम 'वाजसनेयि' पड़ा। वेदव्यास जी से प्रवर्द्धित यजुर्वेद की शाखा को कृष्ण यजुर्वेद तथा याज्ञवल्क्य से संवर्द्धित यजूः शाखा को शुक्ल यजुर्वेद कहा जाता है।

शुक्ल यजुर्वेद के प्रथम कुछ अध्यायों में कर्मकाण्ड सम्बन्धित मन्त्र हैं। इसके अन्तिम अध्याय में ज्ञानकाण्ड का निरूपण किया गया है। ईशावास्योपनिषद् इसी ज्ञानकाण्ड से सम्बन्धित है। इस उपनिषद् का प्रथम मन्त्र 'ईशावास्यम्' इन दो पदों में आरम्भ हुआ है, अतः इसी कारण से इस उपनिषद् का नाम 'ईशावास्योपनिषद्' पड़ा है।

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।"

इस मन्त्र में यह बताया गया है कि इस संसार में जो कुछ भी नश्वर पदार्थ है, वे अपने अपने रूप में भगवान से सम्बन्धित हैं, जिस का त्याग पूर्वक उपभोग करते रहना चाहिए। परन्तु भोग्यपदार्थ जैसे धन आदि पर अल्प भी आसक्ति न होनी चाहिए। धन किस का है? याने अखिल ब्रह्माण्डेश्वर का अथवा उससे शासित ब्रह्माण्ड से भिन्न नहीं है; यों भिन्न मानना भेद बुद्धि है, भ्रान्ति है तथा केवल कल्पना मात्र है। जल में दिखाई देने वाला प्रतिबिम्ब जैसे तुम से भिन्न नहीं है, वैसे ही यह समझना चाहिए कि ईश्वर, उससे शासित होने वाले ब्रह्माण्ड से भिन्न नहीं है। तुम्हारे अज्ञान पर प्रतिबिम्बित छाया मात्र है, मानव में जब तक भ्रान्ति रहती है, तब तक अपने में स्थित सत्य स्वरूप का सन्दर्शन कर नहीं पाता, केवल दुर्वचन, दुर्गुण, दुष्कर्म आदि की ही प्रबलता होती है। जैसे परिमल द्रव्य, चन्दन की लकड़ी को यदि जल में रख दें, तो कुछ समय पश्चात उसमें दुर्गन्ध निकलने लगती है; उसी चन्दन की लकड़ी को जल से निकाल कर पत्थर पर घिसें तो दुर्गन्ध के स्थान पर उसकी अपनी स्वयं की सुगन्धि

ही निकलने लगती है; ठीक वैसे ही वेद शास्त्र आदि के प्रमाणों पर विश्वास कर तथा धर्म-कर्म के द्वारा अपनी विचार शक्ति को परिष्कृत कर लेने पर दुर्गुण-दुराचार रूपी दुर्गन्ध नष्ट हो, उस स्थान पर स्वच्छ स्वरूप वाली आत्मा की सुगन्ध निकलने लगती है। इस समय कर्तृत्व तथा भोगतत्व का द्वैतभाव मिट जाता है। इसीलिए इस उपनिषद में सर्वकर्म सन्यास को ही मोक्ष का उपाय बताया गया है। दान, पुत्र तथा धन के परित्यागपूर्ण सन्यास के लिए चित्तशुद्धि परमावश्यक है। इस चित्तशुद्धि को प्राप्त करने का मार्ग इस उपनिषद् के दूसरे मन्त्र में बताया गया है। शास्त्रविहित अग्निहोत्र आदि कर्मो को पालन करने से ही मोक्ष प्राप्ति हो सकती है और इस आचरण से भिन्न और कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं है तथा जब तक इस प्रकार कर्मो का आचरण करते रहते हैं तब तक साधनों को कोई पाप छू तक नहीं पाता, याने निष्काम कार्य, चित्तशुद्धि के प्राप्त करने के निमित्त साधन हैं। कर्मकाण्ड में खूब अभ्यस्त साधक का चित्त स्वच्छ याने मलिन रहित हो जाता है, जैसे भट्ठी में तपाये गये स्वर्ण की मलिनता नष्ट हो जाती है, जिससे स्वर्ण निर्मल हो जाता है।

यह निर्मल चित्त ही ज्ञान है; निवृत्ति मार्ग है। यही मोक्ष का भी कारण है। यदि कर्मों में किसी भी प्रकार की इच्छा या कामना नहीं होती, तो तुम में कोई दोष नहीं लगता। जैसे चिल्लिगिज का बीज गन्दे जल में डालने से वह जल को शुद्ध व स्वच्छ कर देता है तथा साथ ही उस जल के निचले तह में गन्दगी को लेकर बैठ जाता है, वैसे ही जो साधक कर्मकाण्ड में अभ्यस्त हो जाता है, उसका चित्त स्वच्छ ही नहीं होता, अपितु उसके कर्म फल भी अपने आप ही पृथक होते जाते हैं, जिससे साधक किसी भी प्रकार का हिंसात्मक कार्य नहीं करता। उसके पापों के साथ ही इस प्रकार की नीच प्रवृत्तिया भी क्षीण हो जाती हैं। इस उपनिषद् के अठारह मन्त्रों में ये

दो मन्त्र ही मोक्ष के सम्बन्ध में पथ प्रदर्शन करने वाले मन्त्र हैं, शेष सोलह मन्त्र इन दो मन्त्रों की ही व्याख्या करते हैं।

अब आत्मा अपनी स्थिति से विचलित नहीं होती। वह मन से भी अधिक गतिमान है। उसकी यह विचित्रता है; आत्मा स्थिर है, वह सभी अवस्थाओं का अनुसरण करता है, परन्तु वह स्वयं वृद्धि, क्षय, परिवर्तन आदि नहीं होती हैं। यह मनोव्यापार आदि में सर्वव्यापक है किन्तु यह इन्द्रियों के लिए अगोचर है; चैतन्य स्वरूप आत्मतत्व के अस्तित्व के कारण ही वृद्धि कार्य, कारण, परिवर्तन आदि समस्त कार्यकलाप होते हैं। वास्तव में ईश शब्द का तात्पर्य भी यही है। इस प्रकार आत्मतत्व निकट भी है, दूर भी है। अथवा दोनों से अगोचर है, चल भी है, अचल भी है, जगत के बाहर भी है, भीतर भी है। इस प्रकार के वास्तविक तत्व को समझने वाला ही पुरुष ज्ञानी है।

अज्ञानियों के लिए यह साध्य नहीं है। ज्ञानी व्यक्ति कोई भी वस्तु क्यों न हो, उसे ज्यों का त्यों समझता तथा पाता है। परन्तु उसके विपरीत अज्ञानी व्यक्ति अपने शरीर पर के आभूषण को भी भूल में आसपास तथा दूर पर खोजने लगता है। इसी प्रकार अज्ञानी अपने अज्ञान व विस्मृति के कारण सत्य-आत्मा को, जो उसी में है, किसी अगम्य अतीत स्थान की वस्तु समझता है। याने वह समझता है कि वह आत्मा कहीं दूर किसी अतीत स्थान में स्थित है। ज्ञानी को जब बोध हो जाता है तब वह सर्व भूतात्माओं में अपनी ही आत्मा को तथा अपनी आत्मा में सर्व भूतात्माओं को अनुभव करने लगता है। वह सर्व भूतात्माओं की समानता के सत्य को समझ लेता है; अतः सबको एक ही मानता है। इस महान सत्य का साक्षात्कार कराना ही ईशावास्योपनिषद् का लक्ष्य है। इस पवित्र सत्य को समझ लेने वाला ही ज्ञानी है। वह केवल तुच्छ शोक व मोह के कारण विरक्त नहीं होता। आत्म-साक्षात्कार-प्राप्त-व्यक्ति समस्त भूतों में

अपने ही स्वरूप का दर्शन करता है। अतः वह दूसरों को अपने से भिन्न नहीं समझता। वह धर्माधर्म अथवा शारीरिक आवश्यकताओं व आशाओं के बन्धनों से रहित हो 'स्वयं प्रकाश' हो जाता है। अतः यह जीव रूप उसका असली रूप नहीं है, इसी प्रकार स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर भी उसके अपने असली नहीं हैं; इस सत्य को वह निश्चित रूप से समझ लेता है।

इस प्रकार ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र से ज्ञात होता है कि समस्त ईषणा का अर्थात समस्त इच्छाओं का परित्याग करने वाला ही ज्ञाननिष्ठ कहलाता है; यही प्राथमिक वेदार्थ है। परन्तु जीवन की इच्छाओं, आकांक्षाओं को रखने वाले के लिए यह निष्ठा सम्भव नहीं है। ऐसे लोगों के लिए द्वितीय मन्त्र में दूसरा पथ कर्मनिष्ठा का विधान बताया गया है; जो द्वितीय वेदार्थ है। शेष मन्त्रों में इन ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा दोनों की व्याख्या तथा विस्तार किये गये हैं। काम (इच्छा) तथा अज्ञान (भ्रम) ये दोनों कर्मनिष्ठाएं ही हैं। ज्ञाननिष्ठा का आधार है वैराग्य। यह जगत आत्मा नहीं है, सत्य रहित जगत से सम्बन्ध जोड़ कर व्यर्थ चिंता में क्यों पड़े रहा जावे। इस कर्मनिष्ठा के सम्बन्ध स्वरूप संसार से वैराग्य की भावना रखने वाले साधक ज्ञाननिष्ठ कहलाते हैं। वैराग्य ज्ञाननिष्ठा का सिंह द्वार है। इस उपनिषद् के तीसरे मन्त्र से अठारहवें मन्त्र तक अविद्या की निन्दा के द्वारा आत्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में सर्व सन्यास पूर्वक ज्ञाननिष्ठा का तथा द्वितीय मन्त्र में रागद्वेष रहित कर्मनिष्ठा का बोध कराया गया है। चौथे तथा पांचवें मन्त्रों में आत्मतत्व का विचार तथा उसके पश्चात आत्मज्ञान के फल का विवरण दिया गया है। नवम मन्त्र में सर्वकर्म सन्यास (फल त्याग) में आसक्त परन्तु ज्ञान सहित अपने विहित कर्माचरण में लगे रहने वाले साधक के लिए

कर्मोपासना द्वारा कर्म मुक्ति का मार्ग बताया गया है। जो साधक विद्या के विरुद्ध कर्म करते हैं वे दृश्यात्मक अज्ञान से ग्रस्त हैं। यह ज्ञात होता है कि जो साधक केवल देवता के भिन्न-भिन्न स्वरूपों के ज्ञान में आसक्त रहता है, वह ज्ञान से भी अधिक हीनतर है और अन्धकूप में गिरता है। कहा जाता है कि ज्ञान देवलोक की ओर ले जाता है तथा कर्म पितृलोक की ओर। अतः आत्मसाक्षात्कार के निमित्त जीवन मुक्ति का आधार ज्ञान आवश्यक है। यों ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा के अपने-अपने फल का वर्णन भी किया गया है। दोनों का समन्वय करना सम्भव नहीं है।

शास्त्र विरुद्ध कोई भी आचरण क्यों न हो, नहीं करना चाहिए। अविद्या का अर्थ होता है कर्म करना। इस प्रकार कर्म से चित्तशुद्धि होने पर देवता या ज्ञान की साधना स्वरूप उपासना से चित्तैकाग्रता प्राप्त होती है। यह उपासना ही हिरण्यगर्भोपासना कही जाती है, जो यदि मृत्यु के पूर्व परिपक्व हो जाती है, तो जीवनमुक्ति का हेतु बन जाती है। इस लोक में ब्रह्मोपदेश से ही मुक्ति प्राप्त होती है। जो साधक देवताज्ञान तथा कर्मसमुच्चय का ज्ञान प्राप्त करता है वह कर्मानुष्ठान से मृत्यु को दूर कर देवताज्ञान के बल से देवत्व को प्राप्त हो जाता है।

कठोपनिषद्

तीसरा सम्बोधन

इस उपनिषद् में नाचिकेता की कथा है जिसने यम से ब्रह्म तत्वोपदेश सुनने की आकांक्षा से आदर सहित प्रश्न किये थे। यही आख्यायिका तैत्तिरीय ब्राह्मण में तथा महाभारत के अनुशासन पर्व के १०६वें अध्याय में भी मिलती है। यह उपनिषद् अपने विषय को स्पष्टता पूर्वक कहने तथा भाव कल्पना की गांभीर्यता के कारण बहुत ही प्रख्यात है। इसके अनेक मन्त्रों के भाव भगवद्गीता में भी मिलते हैं। कृष्ण यजुर्वेदीय चरकशाखा के अन्तर्गत कठशाखा के ब्राह्मण में होने के कारण इस उपनिषद् का नाम कठोपनिषद् पड़ा है।

याज्ञस्रव, जो गौतम के नाम से भी प्रसिद्ध हैं बड़े कर्मनिष्ठ थे; उन्होंने अपना सर्वस्व दान करने का महायज्ञ आरम्भ किया। उनके नाचिकेता नामक एक गुण-शीलवान पुत्र था। इस महायज्ञ में गौतम जी ने ऋषियों को ऐसी गायें दान में देने का संकल्प किया, जो न तो जल पी सकती थीं, न घास ही चर सकती थीं, न ही उनमें दूध देने की शक्ति थी। वे बहुत बूढ़ी हो गई थीं। इस पापकर्म के कारण गौतम जी को बहुत दुःख भोगना पड़ेगा ऐसा सोचकर अपने पिता को इस दुःख से मुक्त कराने के विचार से बालक नाचिकेता ने अपने पिता से बार-बार प्रार्थना की, "इस नरक- दुःख के प्रतिकार के स्वरूप मुझे ही उन ऋत्विकों में किसी एक को दान में दे दें।" यह सुन गौतम क्रोधित हो उठे तथा बोले, "मैं तुमको यम को दूंगा।" बालक नाचिकेता ने निश्चिय किया कि मैं अपने पिता जी की बात असत्य न होने दूंगा।

जनम-मरण इस जीवलोक में निश्चित है, इससे बचना असम्भव है; अतः पिता जी के वचनों का पालन करना चाहिए। उसने अपने पिता जी से प्रार्थना की कि विधिपूर्वक आप मुझे यम को दान दे दीजिये तथा उनकी अनुमति लेकर वह यम के दर्शन के निमित्त यमलोक चला। वहाँ यम का दर्शन होने तक तीन रातें वहीं ठहरा रहा। पश्चात यम ने अपनी प्रतीक्षा में बैठे नाचिकेता से वृतान्त पूछा। यम ने नाचिकेता से कहा कि तुमने निराहार ही मेरी प्रतीक्षा में तीन रातें बितायी हैं। अतः इन तीन रातों के लिए तीन वर मांग लो। नाचिकेता ने यम से सहमत हो पहला वर मांगा। "पहला वर यह है कि जब मैं आपकी अनुमति ले कर घर लौटूं; तब मेरे पिता जी का मुझ पर जो क्रोध है वह दूर हो जाय तथा वे शान्त स्वभाव के हो विश्वासपूर्वक मुझे स्वीकार करें।" यम ने कहा— तथाऽस्तु।"

नाचिकेता ने अपना दूसरा वर मांगा, "हे यमराज, स्वर्गलोक में किंचिन्मात्र भी भय नहीं है। वहां मृत्युरूप स्वयं आप भी नहीं हैं, वहां बुढ़ापे का भी भय किसी को नहीं होता, न तो भूख ही सताती है, न प्यास ही लगती है; केवल दुःख रहित आनन्द ही आनन्द है; अतः उस स्वर्ग को प्राप्त करने की वह अग्नि-विद्या मुझे समझाइए।" तब यम ने यह दूसरा वर भी सप्रेम स्वीकार कर लिया तथा अग्नि-चयन के समस्त विज्ञान सविस्तार समझाये। यम ने जिस प्रकार समझाया उसे जैसे का तैसा पूरा का पूरा नाचिकेता ने सीख लिया तथा और भी अधिक निश्चित रूप से समझ लेने के निमित्त यम से एक बार और समझाने को कहा। तब नाचिकेता की बुद्धि की तीक्ष्णता पर प्रसन्न हो यम ने नाचिकेता को और भी एक वर प्रदान किया कि यह अग्नि-चयन तुम्हारे ही नाम से याने नाचिकेतयन के नाम से लोक में प्रचलित हो। इस प्रकार शब्द रूपी चित्तमय रत्नमाला यम ने नाचिकेता को प्रदान किया।

तदनन्तर नाचिकेता ने अपने तीसरे वर की याचना की, "स्वामी मनुष्य मरण-धर्मी है। कुछ लोग कहते हैं कि इस देह तथा इन्द्रियों से भिन्न एक आत्मा भी है। अन्य कुछ लोग इसके विपरीत यह कहते हैं कि ऐसी कोई वस्तु नहीं है। मैं तो आप का शिष्य हूँ, अतः आप से इस विषय को भी भली भांति समझ लूँ, यही मेरा तीसरा वर है।" याचक की समर्थता का परिचय पाये बिना आत्मोपदेश देना ठीक नहीं है, अतः नाचिकेता की योग्यता की परीक्षा लेने के निमित्त यम ने कई प्रकार के इहलोक से सम्बन्धित सुख व ऐश्वर्य आदि वर मांगने को कहा। उन्होंने समझाया कि "आत्मधर्म बहुत ही सूक्ष्म विषय है, जो सामान्य लोगों की समझ के परे का विषय है; अतः आत्मा से सम्बन्धित वर की याचना न कर और कोई भी वर, जो तुम चाहते हो, मांगो"। तब नाचिकेता ने उत्तर दिया, "स्वामी! आपने ही बताया है कि सामान्य लोगों की समझ में आने वाला यह विषय नहीं है। अतः केवल पण्डितों की ही समझ में आने वाले इस सूक्ष्म विषय का उपदेश मुझे दें। आपके अतिरिक्त अन्य कोई समर्थ उपदेशक नहीं हो सकता, अतः मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप कृपया मेरा यह तीसरा वर भी प्रदान करें।"

नाचिकेता की यह स्थिरता तथा श्रद्धा देखकर यम ने निश्चय किया कि नाचिकेता आत्मज्ञान का उपेदश ग्रहण करने योग्य है, अतः उन्होंने बताया, "हे वत्स! श्रेय तथा प्रेय नामक दो प्रकार के कर्म हैं। श्रेय कल्याण का साधन है तथा प्रेय प्रिय लगने वाले भोगों का साधन है। ये दोनों ही कर्म बन्धन में डालने वाले हैं। श्रेय मार्ग का अवलम्बन लेने वालों का कल्याण होता है तथा प्रेय मार्ग का अवलम्बन करने वाला अपने लक्ष्य से भ्रष्ट परम पुरुषार्थ से हीन हो जाता है। अर्थात सांसारिक उन्नति के साधन को स्वीकार करने वाला यथार्थ लाभ से वंचित हो जाता है। श्रेय तथा प्रेय [illegible] की

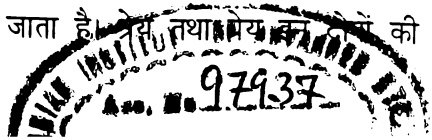

विभिन्नता को तथा कर्मों को एक विवेक के द्वारा पहिचानता है, तो दूसरा अविवेक के द्वारा। इस विभिन्नता को पहचानने पर इन दोनों में से किसी एक को ही अपनाता है। एक मोक्ष का कारण होता है, तो दूसरा संसार रूपी कारागार का। प्रेयोमार्ग का आधार अविद्या तथा श्रेयोमार्ग का विद्या। स्वाभाविक है कि श्रेय मार्ग के पथिक बहुत ही कम होते हैं। आत्मा संकल्प विकल्प रहित अखण्ड-रस-धन स्वरूप है, अतः अस्ति-नास्ति, कर्ता-अकर्ता इत्यादि विकल्पों से रहित है। वह कोई ज्ञेयवस्तु (जानने वाली वस्तु) भी नहीं है; अतः उसमें ज्ञातृ (जानने वाला) ज्ञान तथा ज्ञेय का भेद भी नहीं है। यही आत्मज्ञान की पराकाष्ठा है। तुम्हें यह जान लेना चाहिए कि उपदेशक भी ब्रह्म है तथा श्रोता भी ब्रह्म है। इस प्रकार ज्ञान, याने समस्त संसार का निवारण हो जाने पर जन्म-मृत्यु से मुक्ति मिल जाती है। श्रुति में विश्वास न करके केवल तर्क के द्वारा ही यह परम रहस्य समझ में नहीं आ सकता। तर्क करने वालों के लिए यह असाध्य है।" इस प्रकार यह उपनिषद् समझाता है।

"आत्म दर्शन कला साध्य है, वह पुरातन है। यदि मन को विषय वासनाओं से हटा कर संयमित रक्खें, तो यह सम्भव हो पाता है। केवल धैर्यशाली ही इस आत्मा को समझ कर शोकमुक्त हो सकता है। समस्त वेदान्त परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं। वे सब के सब एक ही स्वर में उद्घोषित करते हैं कि यह परमार्थ वस्तु 'ॐ' है याने 'ॐ' जो प्रणव है परमात्मा का वाचक शब्द है। वही ओंकार पराब्रह्म तथा अपराब्रह्म इन दोनों का भी प्रतीक है। ये दोनों ब्रह्म ओंकार की उपासना से प्राप्त होते हैं। हिरण्यगर्भ की प्राप्ति के निमित्त भी ओंकार ही साधन होता है। यह शुद्ध सत्व प्रधान हिरण्यगर्भ माया से परिच्छन्न है। यह ओंकार परम्परा ब्रह्म का भी प्रतीक है इसी के द्वारा इस माया जाल को छिन्न-भिन्न किया जा

सकता है। इस उपनिषद् में यह भी बताया गया है कि आत्मा का परिमाण (नाप तोल) नहीं है, आत्मा उपाधि धर्म से अंशस्पर्श है, यानी उपाधि रहित है। उपाधि धर्म युक्त सी केवल भासित होती है जो कल्पित है; सत्य नहीं है। सूर्य का प्रतिबिम्ब जल की चंचलता के कारण चंचल हो जाता है। वास्तव में वह बिम्ब अर्थात सूर्य अचल है चंचल नहीं है। सूर्य करोड़ों मील की दूरी पर है। जल में अपने प्रतिबिम्ब से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल वह साक्षी मात्र है। वैसे ही आत्मा देश व काल की घटनाओं का केवल साक्षी मात्र है।"

विद्या तथा अविद्या के फलों का भोक्ता जीव ही है। बुद्धि ही प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का कारण है। इसलिए आत्मदर्शन सर्वेन्द्रियों के उपशमन से ही प्राप्त होता है। वाक् आदि इन्द्रियों को अनात्मभाव से असत्यों का विनाश कर उन्हें मन में विलीन करना चाहिए। वैसे ही मन को बुद्धि में, बुद्धि को हिरण्यगर्भ में, हिरण्यगर्भ को बुद्धि आदि के साक्षीभूत मुख्य आत्मा में विलीन करना चाहिए। तदनन्तर समस्त प्रपंचों को निर्विकल्प समाधि के माध्यम से अपने स्वरूप परमात्मा में स्थिर कर देना चाहिए। यह उपनिषद् का तात्पर्य है।

सारा संसार मिथ्या ज्ञान का विजृम्भण है; नाम-रूप-कर्माश्रय है। मरुभूमि की मरीचिका का तथा रस्सी में सर्प का भ्रम जैसे यथार्थ स्वरूप के ज्ञान हो जाने से दूर हो जाता है; वैसे ही आत्मदर्शनार्थ अनादि अविद्या रूपी गाढ़-निद्रा में लीन चित्त को जगा कर आत्मज्ञानाभिमुख करना चाहिए। इस उपनिषद् के चौदहवें मन्त्र में बताया गया है— "आत्मा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध रहित है, नाश रहित तथा अनन्त है। इन्द्रियां वाह्यवृत्त हैं। आत्मा समस्त व्यवहारों का, साधनों का तथा अज्ञान जनित नानात्व भद बुद्धि को नष्ट करने वाली है। आत्म उपाधि के भेदों के कारण विभिन्न रूपों में भासित होती है। 'मैं' और हूँ तथा ब्रह्म और है यानी 'मैं' तथा

ब्रह्म में भेद करने वाला मिथ्या ज्ञान ही जन्म-मृत्यु का मूल कारण है। यमराज ने नाचिकेता को ब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में उसके सन्देह को दूर करने के लिए बताया।

अंगुष्ट मात्र वह पुरुष धूम्र में छिपी ज्योति की भांति है; वह पुरुष तीनों कालों में रत रहने वाला है; वह नित्य है। ऊंचे पर्वत पर गिरने वाला वर्षा का जल तलहटी के प्रदेशों की ओर नाना दिशाओं में प्रवाहित हो जैसे विभिन्न प्रवाह के रूप में बिखर कर नष्ट हो जाता है, वैसे ही विविधि धर्मावलम्बी दूसरे धर्मों को अपने धर्म से भिन्न समझने के कारण अपनी उच्च स्थिति से नीचे गिर तथा विविध भागों में अधःपतित हो नष्ट हो रहे हैं। यह उपनिषद् यह घोषित करता है कि आत्मा से श्रेष्ठ अथवा समान पदार्थ और कुछ नहीं है। वृक्ष की जड़ें भूमि के अन्दर ही अन्दर फैली होती हैं, जो बाहर दिखाई नहीं देतीं; परन्तु अपने कार्य के रूप में पुष्प, फल आदि निश्चित रूप में प्रकट करती हैं। ऊपर के आवरण यानी मिट्टी को हटा देने से ही जैसे वे जड़ें प्रत्यक्ष दीख पड़ती हैं, वैसे ही सब के जन्म के आधार स्वरूप संसार रूपी वृक्ष के जड़ रूपी ब्रह्म का निर्धारण होता है। यों यम ने नाचिकेता को समझाया।

यह संसार रूपी वृक्ष इन्द्रजाल है, जो ऊपर-ऊपर ही दिखाई देता है, परन्तु वह दृश्य यथार्थ नहीं है। जैसे निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब सुस्पष्ट दीख पड़ता है, वैसे ही निर्मल अन्तःकरण वाले इस जन्म में ही आत्मा का दर्शन कर पाते हैं। ब्रह्म ज्ञानी के लिए ज्ञेय है; उपासकं का उपास्य है। ब्रह्म का साक्षात्कार कर ज्ञानी मुक्तजीवी बन जाता है। उपासक मृत्यु के पश्चात ही ब्रह्मलोक पहुँचता है। वहाँ ज्ञान की उपलब्धि से हिरण्यगर्भ में लीन हो जाता है। कल्पान्त में हिरण्यगर्भ के साथ ही साथ मुक्त हो जाता है। इस प्रकार यम से उपदेशित इस ब्रह्मविद्या को विधि के साथ ही ज्यों का त्यों ग्रहण कर

नाचिकेता मृत्यु से मुक्त हो ब्रह्म को प्राप्त हुआ। इस ब्रह्मविद्या को केवल समझने से अथवा समझने का प्रयत्न करने से साधक उत्तम मनुष्य बन कर पाप रहित हो जाता है।

यह उपनिषद् आत्मतत्व, प्रणव स्वरूप तथा ब्रह्मविद्या को अनेक प्रकार से समझाता है। इसका केवल सारांश मात्र समझाने का मैंने संकल्प किया था। तीक्ष्ण बुद्धि वाले साधक तथा मुमुक्ष जो आवागमन से बचना चाहते हैं, उनके लिए केवल एक मन्त्र पर्याप्त है; जिसके अनुसरण से वे भवसागर को पार कर सकते हैं; याने वह एक मन्त्र अवतरण के लिए नौका बन सकता है। मन्द बुद्धि वाले मनुष्यों को तथा संसार में मोह रखने वाले संसारियों को जितना भी समझावें, व्यर्थ ही है; वे कुछ भी नहीं समझ नहीं पाते। समुद्र रूपी आत्मा का स्वाद जानने के अभिलाषियों के लिए समुद्र का सारा पानी पीने की आवश्यकता नहीं होती; केवल एक जल बिन्दु जीभ पर रखना पर्याप्त होता है; है न? इसी प्रकार इस उपनिषद् को समझने की इच्छा रखने वालों के लिए सभी मन्त्रों को समझने की आवश्यकता नहीं है। केवल एक मन्त्र से ही इस उपनिषद् के सार को सम्यक रूप से समझने वाले साधक अवश्यमेव अपना उद्धार कर लेते हैं। ऐसे साधक सचमुच ही धन्य हैं।

मुण्डकोपनिषद्

चौथा सम्बोधन

इस उपनिषद् का प्रारम्भ इस प्रार्थना के साथ होता है कि सदैव मंगलप्रद कार्यों को ही नेत्रों से देखें तथा मंगल ध्वनि श्रोतों (कानों) से सुनें तथा सर्वेश्वर का ही अनवरत चिन्तन करते हुए जीवन बितावें। इस उपनिषद् में उपदेशित विद्या, कार्य-ब्रह्म, हिरण्यगर्भ तथा ब्रह्म से सम्बन्धित होने के कारण ब्रह्मविद्या कही जाती है। पूर्णतया मुण्डित शिर तथा पूर्णतया मुण्डित शिर पर अग्नि धारण करना जिनका प्रमुख लक्षण है उन पुरुषों को लक्षित कर यह ब्रह्मविद्या समझाने के कारण इस उपनिषद् का नाम मुण्डकोपनिषद् पड़ा है। गुण सम्पत्ति से यह उपनिषद् अन्य समस्त उपनिषदों की मुकुटमणि के रूप में प्रसिद्ध होने के कारण यह मुण्डक याने शिर शब्द उपयुक्त सिद्ध होता है। यह उपनिषद् अर्थर्ववेद के अन्तर्गत है।

सम्प्रदाय के अनुसार परम्परा से प्रचलित यह ब्रह्मविद्या दो प्रकार की है— पराविद्या तथा अपराविद्या। पराविद्या निर्गुण ब्रह्म का बोध कराने वाली विद्या है तथा अपराविद्या धर्माधर्म के फल-प्रधान साधन वाले सगुण ब्रह्म का बोध कराने वाली है। ये दोनों विद्याएं शौनक ने अंगिरस को उपदेशित की। वेद तथा वेदांग अपराविद्या के अन्तर्गत हैं। उपनिषद् भी अपराविद्या ही हैं। अतः अपराविद्या अध्ययन के योग्य है। जिससे तत्वज्ञान अविनाशी परब्रह्म जाना जाता है, वह विज्ञान ही पराविद्या है। मकड़ी के शरीर से निकलने वाले जाले के लिए जैसे मकड़ी उत्पादन का कारण होती है, वैसे ही जगत

के लिए ब्रह्म उत्पादन कारण है। अपराविद्या का स्वरूप यह संसार क्रिया-कर्मों का साधन है। ज्ञान होने तक वह रहता है। अपराविद्या के अनुसार जो साधक कर्म करते हैं, वे स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। जहां जीवन काल यद्यपि दीर्घ है, नियमित है फिर भी कुछ साधकगण कर्म के द्वारा उपलब्ध होने वाले स्वर्ग आदि को भी अनित्य मान कर उसका परित्याग करते हैं तथा ब्रह्मनिष्ठा की खोज कर उसके आश्रय में मुक्ति के हेतु ब्रह्मविद्या का ज्ञानार्जन करते हैं।

समस्त जीव ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सकल जीवों का जन्म स्थान ब्रह्म ही है। जैसे प्रज्वलित अग्नि में से उसी के समान रूपवाली अगणित चिनगारियां नाना प्रकार से प्रकट होती हैं तथा शरीर से अगणित रोम निकलते हैं, वैसे ही ब्रह्म से अगणित जीव उत्पन्न होते हैं। देखने में वे ब्रह्म से भिन्न लगते हैं, परन्तु वास्तव में वे ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। परब्रह्म की अनुज्ञा के अनुसार ही सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि तथा पंच महाभूत अपने-अपने कार्य करते जा रहे हैं। वह ब्रह्म ही समस्त कर्मों का फल देने वाला है।

जीव तथा ईश्वर ये दोनों दो पक्षी हैं, जो शरीर रूपी वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। इनमें जीव कर्मफल का भोग करता है; पर ईश्वर दूर दूर ही रह कर केवल साक्षीभूत के रूप में सब कुछ देखता ही रहता है। जीव शरीर-धर्मों से मिल कर सुख-दुःख का अनुभव करता रहता है। जब तक वह यह जान नहीं पाता कि मैं ही ईश्वर हूँ, तब तक वह दुःख शोक से मुक्त नहीं हो पाता। ईश्वर ज्ञान की आकांक्षा से जो साधक अपने चित्त को वश में कर लेता है, उसकी विषयभोग इच्छा नष्ट हो जाती है तथा उसके स्थान पर आत्मज्ञान अंकुरित होने लगता है। इसका अन्तिम मन्त्र यह बताता है कि इस प्रकार की दिव्य ब्रह्मविद्या का उपदेश ही इस मुण्डकोपनिषद् का मुख्य उद्देश्य है। मुण्डक का तात्पर्य सिर है। मालूम होता है कि

यह उपनिषद् अन्य उपनिषदों के शिरोभूषण होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। इसका यह भी भाव होता है कि अग्नि को शिर पर धारण करना जिनका मुख्य लक्षण है तथा उसका अनुसरण जो करते हैं उन्हें ही यह ब्रह्मविद्या सुलभ होती है। इस उपनिषद् के मन्त्रों के गूढ़ार्थ ब्रह्म सूत्र के दो अध्यायों में भी मिलते हैं।

इस विषय को मुण्डकोपनिषद् में तीन मुण्डकों (खण्डों) में दिया गया है और प्रत्येक खण्ड में दो अध्याय हैं। प्रथम खण्ड में पराविद्या तथा दूसरे में अपराविद्या परब्रह्म की प्राप्ति में सहायक होने वाले कर्म, कर्म प्रतिपादक शब्द तथा मन्त्र आदि बताए गये हैं; तीसरे खण्ड में बन्धन मुक्त होने का क्या अर्थ है दिया गया है। निस्सन्देह ये ही कर्मकाण्ड हैं। उपनिषदों के समस्त मन्त्र ब्रह्मविद्या का ही प्रतिपादन करते हैं, अतः ये अति पवित्र हैं।

जैसे ऊपर बताया गया है कि मकड़ी अन्य किसी वस्तु की सहायता के बिना ही अपने में उत्पन्न तन्तु निकाला करती है तथा पुनः उसे अपने में समेट लेती है वैसे ही परमात्मा में अन्य किसी मूल साधनों के बिना ही सारे विश्वों की सृष्टि हुई थी। कल्पान्त में यह सब उसी परमात्मा में विलीन हो जाते हैं। जिस वस्तुतत्व से दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है, उसका वह उपादान कारण (उत्पादन हेतु) होता है। जैसे धागे से वस्त्र, मिट्टी से घड़ा तथा सोने से आभूषण बनते हैं। जैसे धागा, मिट्टी व स्वर्ण, वस्त्र, घड़ा व आभूषण के उपादान कारण होते हैं, वैसे ही ब्रह्म से प्रकृति बनने के कारण ब्रह्म उपादान कारण है। यह ब्रह्म जगत का निमित्त कारण भी होता है, इसी कारण इस जगत का सृष्टिकर्ता ब्रह्म सर्वज्ञ होता है। अतः सर्वज्ञत्व एकमेव परमात्मा को छोड़ अन्य किसी को साध्य नहीं है। ब्रह्मज्ञान पराविद्या का मुख्य लक्षण है। स्वर्ग ही उसका फल है। स्वर्ग की इच्छा रखने वालों के लिए कर्म ही मुख्य मार्ग है। समस्त कर्मों में अग्निहोत्र प्रधान

है। कर्त्ता के शुद्धाचरणों से चित्त की शुद्धि होती है और पराविद्या के निमित्त यह अत्यन्त आवश्यक पूर्वांग है। प्रज्वलित होमाग्नि में दी जाने वाली आहुतियां मानो उस यजमान को बुलाती है कि ब्रह्मज्ञान की अनुभूति कर लो। जो साधक-अर्थज्ञान समेत अग्निहोत्र कर्म करता है उसकी आहुतियां सूर्य किरणों को ग्रहण करती है। वे किरणें उन आहुतियों को इन्द्रनिवास स्वर्ग को ले जाती हैं।

वेदों में दो प्रकार के कर्म दिये हैं:— इष्ट तथा पूर्त अग्निहोत्र, सत्य भाषण, तपस्या अर्थात वैराग्य, वेदाध्ययन, अतिथि सेवा इत्यादि कर्म 'इष्ट' कर्म तथा देवालय, धर्मशाला, यात्री-विश्राम स्थल, तड़ाग आदि का निर्माण तथा छायादार वृक्ष लगाना आदि कर्म 'पूर्त' कहे जाते हैं। ये दोनों कर्म शुभ फल देने वाले हैं। सारा संसार कार्य-कारण से बन्धित है, जो सहज नहीं है; कर्ता है। इसके फल भी कर्मजन्य हैं, अतः वह भी कर्ता है तथा अनित्य है।

समस्त सृष्टि, नाम-रूपात्मक है, अतः असत्य है। वाणी द्वारा वर्णित होने के कारण विकार स्वरूप है। परम पुरुष (परमात्मा) ही सारी सृष्टि का कारण भूत है; अर्थात सृष्टिकर्ता है। वही केवल नित्य-सत्य-निर्मल स्वरूप है। समस्त कर्म तथा उसके फल उस विराट पुरुष के ही फलस्वरूप हुए थे एवं हो रहे हैं। अतः वह विराट पुरुष अदृश्य तथा अग्राह्य (बुद्धि से परे) है। श्रुति कहती है कि 'मैं' ब्रह्म ही है। रथ चक्र में जैसे पहिये की नाभि से आरा या तीलियां निकलती हैं और उन पर रथ घूमता है वैसे ही उस ब्रह्म से ही यह समस्त प्रपंच चलित हैं। उस परमार्थ वस्तु के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि पदार्थ ज्ञान के समझने के लिए मन मुख्य है।

ब्रह्म रूपी लक्ष्य को मन रूपी बाण से बींधना चाहिए। उपासना के द्वारा तीक्ष्ण किये गये अन्तःकरण रूपी बाण को उपनिषद् रूपी

धनुष पर चढ़ाकर चित्तैकाग्रता से खींचकर अक्षर परब्रह्म को ही लक्षित कर बींधना चाहिए। यदि ओंकार को ही धनुष माने, तो जीव ही बाण है, ब्रह्म ही लक्ष्य है। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित उसे परब्रह्म उद्दीप्त करता रहता है। अतः अन्तकरण को अपने बाह्य विषयों से हटाकर तथा वैराग्य के द्वारा चित्त की कलुषता को दूर कर निर्मल करना चाहिए। इस प्रकार निर्मल किए हुए चित्त को ओंकारोपासना से एकाग्र करना चाहिए। गाड़ी के चक्र (पहिए) की नाभि से निकले हुए आरों (तीलियों) की भांति हृदय से अनेक नाड़ियाँ निकल कर सारे शरीर में व्याप्त हैं। हृदय के अन्तर्भाग में रहनेवाला जीव अनेक प्रकारों से बदलता रहता सा दीख पड़ता है। जीव और कोई नहीं है, आत्मा ही है। ओंकार का आलम्बन ले याने ओंकार को लक्ष्य में रखकर ध्यान करना चाहिए, तब अज्ञान नष्ट हो जायगा, जिससे आत्मा का साक्षात्कार सम्भव हो जाता है।

समस्त प्रपंच या संसार परमेश्वर की ही महिमा का प्रतीक स्वरूप है। हृदयाकाश उस परमेश्वर को उपलब्ध करने का स्थान है। परब्रह्म समस्त प्राणियों का प्राण है; परमात्मा रूप रहित है, अतः नेत्रों के द्वारा उसे देखा नहीं जा सकता। वह नाम रहित है, अतः वाक् (वाणी) के द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी वह ग्राह्य नहीं है। वह इन्द्रियागोचर है। तपस्या अथवा वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मों के द्वारा भी वह प्राप्य नहीं है। जब राग-द्वैष रहित हो बुद्धि निर्मल व शुद्ध होती है तब ब्रह्मज्ञान सम्भव हो पाता है। ज्ञान के द्वारा आत्मसाक्षात्कार होता है। ध्यान के द्वारा चित्त एकाग्र होता है तथा उसके द्वारा ज्ञान होता है। जब चित्त निर्मल हो जाता है, तब अपने शरीर में ही आत्मज्ञान याने आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। आत्मा ने जिस शरीर में पंचप्राणों के रूप में प्रवेश किया है, उसी शरीर में ही विशुद्ध ज्ञान से सम्पन्न

चित्त के द्वारा वह सूक्ष्मतम आत्मा दर्शित होती है। जैसे दूध में मक्खन तथा काष्ठ में अग्नि होती है वैसे ही इन्द्रियों में आत्मा रहती है। यह चित्त क्लेश आदि कलुषितों से पूर्ण हैं, अतः जब वह विशुद्ध हो जाता है तब हृदय में रहने वाला परमात्मा प्रत्येकात्मा के रूप में प्रकाशित होता है। जो साधक इस आत्मज्ञान को समझ लेता है, वह पूज्य होता है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही होता है; अविद्या का विनाश ही मोक्ष है।

माण्डूक्योपनिषद्

पांचवां सम्बोधन

यह उपनिषद् समस्त वेदान्तों का सार है। अन्य उपनिषदों से इसका विषय अधिक गम्भीर है। मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त यह एक माण्डूक्योपनिषद् ही पर्याप्त है। ब्रह्मविद्या समझाने वाले समस्त उपनिषदों में यह प्रधान माना जाता है। परन्तु उपनिषदों में ही इतना छोटा उपनिषद् दूसरा नहीं है। इसके मन्त्रों की संख्या भी बहुत कम है; केवल बारह है। यह चार प्रकरणों में विभक्त है (१) अगम, (२) वैतथ्य (३) अद्वैत तथा (४) अलात शान्ति। प्रथम "अगम" प्रकरण में आत्मतत्व के उपाय के रूप में ओंकार तत्व के गूढ़ार्थ का वर्णन किया गया है। दूसरे प्रकरण "वैतथ्य" में द्वैत के उपशमन की आवश्यकता समझायी गयी है। तीसरे प्रकरण "अद्वैत" में एकत्व का अर्थात अद्वैततत्व का विचार किया गया है तथा चौथे प्रकरण "अलात शान्ति" में परस्पर विरुद्ध, अवैदिक मतान्तरों का वर्णन किया गया है।

समस्त शब्द ओंकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। अतः वे समस्त शब्द ओंकार ही हैं। वे केवल ओंकार के परिवर्तन मात्र हैं। ब्रह्म ओंकार का सृष्टा है, अतः ओंकार ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परोक्ष रूप में दृष्टिगत होने वाला ब्रह्म ही अपरोक्ष रूप में आत्मा है।

आत्मा के विश्व, तेजस् प्राज्ञा आदि भेद केवल उपाधि मात्र हैं। आत्मा तीनों अवस्थाओं में अर्थात जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति में

एक के पश्चात एक में अपना अनुसन्धान करती हुई इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव करती है। यह आत्मा तथा "मैं" की उपाधि से सर्वसामान्य रूपेण प्रचलित आत्मा दोनों एक ही हैं। यह नदी के प्रवाह के मध्य भाग में ही तैरने वाली मछली की तरह है जो दोनों किनारों को नहीं छूती; यद्यपि जल प्रवाह इन कूलों द्वारा सीमित तथा प्रवाहित होता है। "मैं" यानी आत्मा सुषुप्ति अवस्था में समस्त विषय वासनाएं निष्क्रिय हो जाने से, नाम-मात्र शेष रहने वाले विषय वासनाओं का अनुभव नहीं करता। स्वप्नावस्था में सुप्त वासनाओं के पीछे पड़े उनका अनुभव करता रहता है। समस्त वासनाएं मानसिक संचलन के द्वारा जाग्रतावस्था में तथा स्वप्नावस्था में संसार से लिप्त रहती हैं। ये मानसिक स्पन्दन ही सृष्टि कही जाती है। जाग्रत आदि इन तीनों अवस्थाओं मे भिन्न जो अवस्था है वही तुरियावस्था है।

यह तुरियावस्था मन, वाणी आदि इन्द्रियों के परे है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। मन व बुद्धि से परे है। इसे किसी प्रकार शान्त, शिव तथा अद्वैत कहा जा सकता है। इन चारों को ही चतुष्पाद कहा जाता है, अर्थात चार चरण। यह अद्वितीय है; निर्विकार है। तुरियावस्था में समस्त मानसिक कामनाएं नष्ट हो जाती हैं, अतः अमनस्क स्थिति हो जाती है। तुरिया का यह अमनस्क स्थिति सुषुप्ति में मनत्व तथा जाग्रत व स्वप्न में मनः स्पन्दन होता है। इन तीनों अवस्थाओं में सत्य का ज्ञान या तत्वज्ञान ग्रहण नहीं किया जा सकता, अतः ये तीनों समान रूप के याने एक पक्ष के हैं। ये संसार के प्रपंच को ही सत्य मानकर तुरिया को भंग करना ही चाहते हैं, अतः ये सत्य नहीं हैं; मनः स्पन्दन से कल्पित भ्रम मात्र हैं। यदि सत्य को सम्यक रूप से समझ कर उसे निरुपित कर दें, तो सब प्रकार की भ्रान्तियां समूल नष्ट हो जायेंगी।

संसार, प्रपंच की सृष्टि करने वाले ये असत्य ही हैं जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम।

प्राज्ञविदों ने जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्थाओं को क्रमशः ओंकार का आकर, उकार तथा मकार बताया है। इन तीनों का पर्यवसान ही ओंकार है। साधना में इनका विशेष स्थान है। अकार प्रधान ओंकार की उपासना से समस्त भोग प्राप्त होते हैं, उकार प्रधान ओंकार की उपासना से ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा मकार प्रधान ओंकार की उपासना से लय की प्राप्ति होती है। इस रहस्य को जानकर जो साधक ओंकार की उपासना करता है, वह जगत के यथार्थ को समझने में समर्थ हो जाता है। जो साधक यह जानकर कि अकार आदि इन तीनों मात्राओं के अन्तर्गत "मैं" भी हूँ, ओंकार की उपासना करता है, वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इनसे ओंकार की उपासना की उत्कृष्टता मालूम होती है।

अकार आदि ये तीनों मात्राएं ओंकार में विलीन हो जाने से वे अमात्र हो जाते हैं। ओंकार शान्त, शिव तथा अद्वैत है। इसके ज्ञान से साधक ब्रह्म में ऐक्य हो जाता है। २४—२६वीं कारिकाओं में प्रणव मन्त्र की बड़ी प्रशंसा की गयी है। प्रणव को सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण बताया गया है तथा सर्व शोक विनाशक है। इतना ही नहीं प्रणव के तत्व को सम्यक रूप से समझकर जो साधक इसका मनन करता है वह परमात्व तत्व को समझने वाला हो जाता है।

प्रथम प्रकरण में आत्मा के अद्वैत सिद्धान्त को सामान्य रूप से वर्णन किया है। दूसरे प्रकरण वैतथ्य में द्वैत (ईश्वर व संसार) की अनित्यता का प्रदर्शन किया गया है। तीसरे प्रकरण अद्वैत में आगम प्रतिपादित द्वैत की युक्ति से यह सिद्ध किया गया है कि नाना रूप वाला यह जगत उत्पत्ति के पूर्व अव्यक्त था। कार्यब्रह्म की उपासना

से ही उत्पन्न ब्रह्म को पाना उपासक के लिये सम्भव नहीं है। इस उपासना से ही अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो पाता। ब्रह्म का इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि कृपण इसका साक्षात्कार कर नहीं पाता, वह ब्रह्म जन्म नहीं लेता तथा सर्वसामान्य रूप से प्राप्त नहीं हो पाता।

आत्मा आकाश की तरह सर्वव्यापी है। एक ही आकाश घटाकाश, मठाकाश इत्यादि अनेक रूपों में जैसे सीमित या अभिव्यक्त होता है, वैसे ही आत्मा अनेक जीवों के रूप में सीमित या अभिव्यक्त होती है। यों अभिव्यक्त हुई आत्मा सत्य नहीं है; जीव का आश्रय वाला शरीर घट के समान है। घट के भीतर सीमित घटाकाश तथा बाहर के महाकाश में जैसे कोई अन्तर नहीं होता, वैसे ही शरीर के भीतर सीमित जीवात्मा तथा परमात्मा में अन्तर नहीं है। जब घट फूट जाता है, तब घटाकाश जैसे महाकाश में विलीन हो जाता है, वैसे ही शरीर नष्ट हो जाने पर जीवात्मा परमात्मा में ऐक्य हो जाता है। उपाधिकृत भेद के अतिरिक्त, परमात्मा व जीवों में भेद नहीं होता। जैसे घटाकाश का न तो कोई विकार होता है न कोई अवयव ही; वैसे ही जीवात्मा का भी न तो कोई विकार होता न कोई अवयव ही।

जीव के जनम-मरण तथा लोकान्तर गमनागमन याने दूसरे लोक में जन्म लेना सत्य नहीं है। ऐसा केवल अविद्या के कारण मालूम होता है। वास्तव में द्वैत अद्वैत के विरुद्ध नहीं है। द्वैत मत के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में परस्पर विरोध है। अद्वैत के अनुसार तो सब कुछ परब्रह्म ही है; अतः अद्वैत में विरोध के लिए स्थान ही नहीं है। द्वैत में दोनों के कारण राग द्वेष आदि वर्तमान रहते हैं। अद्वैत परमार्थ है, पर द्वैत केवल कल्पना मात्र है।

जब तक मनोव्यापार होते हैं तब तक द्वैत भाव का भान होता

है, जब मन समाधि अवस्था में सुषुप्ति या निर्व्यापार हो जाता है, तब इसका अभाव हो जाता है। केवल अविद्या से उत्पन्न भ्रान्ति की दशा में द्वैत दीख पड़ता है, परन्तु वास्तव में द्वैत तथा अद्वैत में विरोध नहीं है। जैसे सर्प की भ्रान्ति का कारण रस्सी होती है, वैसे ही जगद् भ्रान्ति का कारण ब्रह्म होता है। यह तर्क ठीक नहीं है कि परमात्मा जगद् रूप में उत्पन्न होता है। सामान्यतः स्वभाव को बदलना किसी के बस की बात नहीं है। अनेक श्रुतियों में बताया गया है कि परमात्मा के समान ब्रह्म नहीं है, अर्थात् नानात्व परमात्व तत्व का गुण नही है। इतना ही नहीं; श्रुतियों ने नानात्मव की निन्दा भी की है। क्यों! स्वप्न के अनुभव को हम असत्य मानते हैं न? स्वप्नानुभव की तरह ही जाग्रदनुभव भी केवल मानसिक ही होता है; अतः उसे असत्य मानने में कोई त्रुटि नहीं है। मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं, यहाँ तक कि उसके विनाश को देखने वाले साक्षी का ज्ञान मन को नहीं हो सकता। इन सबका दृष्टा आत्मचैतन्य सत्य है।

विवेक तथा वैराग्य के अभ्यासों के द्वारा मन को जब सांसारिक विषयों से हटा लिया जाता है तब 'अमनोभाव' प्राप्त होता है। अतः केवल आत्मा ही सत्य है। शेष सब कुछ असत्य हैं विषयों के असत्यता के ज्ञान के बिना केवल मानसिक विरोध करने से वासनाएं नष्ट हो नहीं पाती हैं। मानसिक निरोध होने पर भी अवसर मिलते ही वे वासनाएं पुनः उत्तेजित हो उठती हैं। याने सुषुप्ति अवस्था के निरोध में विषयों की निवृत्ति होती है। इसके लिए मन का निर्व्यापार होना आवश्यक है; अन्यथा मन पुनः व्यापार वाला बन विषयों के अभिमुख हो विषयासक्त हो जाता है। समस्त विषयों का ज्ञान असत्य है; इसका निश्चित पूर्ण-ज्ञान हो जाने पर ही मन उसकी ओर आसक्त नहीं होगा। अत्यन्त भूख के मारे व्याकुल ही क्यों न हो, क्या कोई विष्ठा खाने की आकांक्षा करेगा? नहीं कर सकता है न!

आत्मा के लिए निद्रा, जन्म, नाम, रूप इत्यादि नहीं है। आत्म-साक्षात्कार हमारा ध्येय है। वह नित्य स्वयं प्रकाश स्वरूप है। इस ज्ञान के द्वारा निर्विकार प्राप्त होता है। याने समस्त विकारों का उपशमन सम्भव हो पाता है। मिथ्यात्व का ज्ञान न होने से मनोनिग्रह केवल तृण सागर को उलचने के प्रयत्न के जैसा अत्यन्त कष्टसाध्य है, असम्भव है। प्रशान्ति तथा अभय की अवस्था की प्राप्ति के निमित्त जगत के मिथ्यात्व का हृद्ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है।

कोई भी वस्तु क्यों न हो, उसकी उत्पत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। वह या तो सत् अथवा असत् या सत्यासत्य हो सकता है न! वास्तव में यह उत्पत्ति का विकार है; उत्पत्ति माने विकार। कारण ही कार्य रूप में परिवर्तन होकर विकार होता है। सत्य पदार्थ का विकार नहीं होता, अतः वह जन्म का कारण भी नहीं होता, जिससे उसका जन्म नहीं होता, असत्य पदार्थ याने जो शून्य है, नहीं है। उसका विकास असम्भव है। सत् तथा असत् ये दोनों परस्पर विरोधी हैं; अतः उनसे उत्पत्ति असम्भव है। बाह्य वस्तुएं परस्पर भिन्न होने के कारण ही ज्ञान में भेद पाया जाता है। अग्नि का स्मरण करते हुए दाह का अनुभव नहीं होता है। हाथ से स्पर्श करने या पकड़ने से ही उसके दहन का अनुभव हो पाता है। इसी प्रकार बाह्य पदार्थ भी उस पदार्थ के ज्ञान से भिन्न है; अतएव उनके अनुभव से ही दुःख आदि सम्भावित होते हैं।

घड़ा मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी प्रकार क्रमशः एक के पश्चात् दूसरे का अन्वेषण करते चलें, तो सर्व प्रथम या मूल कारण का ज्ञान होगा। रस्सी में भले ही सर्प न हो, परन्तु सर्प की भ्रान्ति होती ही है। समस्त भ्रान्तियां भावात्मक हैं, याने मन की कल्पना हैं। स्वप्न में हमें सुख, दुःख, हर्ष, शोक आदि द्वन्द्व अनुभव होता ही है। यद्यपि वास्तविकता कुछ नहीं है। मानसिक रूप

से होने वाले ज्ञान का न तो कोई आलम्बन होता है न कोई निमित्त ही। सत्य के ज्ञान के अभाव में भ्रान्ति ज्ञान होता है। अविद्या से दूषित चित्त के लिए भ्रान्ति स्वाभाविक है।

यह उपनिषद् यह समझाता है कि सत् किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता जो स्वयं असत् है। चित्त की उत्पत्ति नहीं होती। हमारा चित्त ही बाह्य संसार की उत्पत्ति का कारण है। जैसे जलने वाली अगरबत्ती से निकलने वाला धुंआ और किसी पदार्थ से जैसे नहीं निकलता वैसे ही विज्ञान के कारण बोध होने वाली वस्तुयें-विज्ञान नहीं हैं। आभास मात्र हैं, उसकी उत्पत्ति भी और कहीं से नहीं होती। याने जैसे बत्ती से धुआं का आभास होता है, वैसे ही चित्त के कारण संसार का आभास होता है। ये सब केवल आभास मात्र हैं; द्रव्य नहीं हैं। बाह्य धर्म न तो चित्त से उत्पन्न होते हैं, न चित्त बाह्य धर्म से ही उत्पन्न होता है। अज्ञान के आवरण से सब उत्पन्न होते हैं।

उत्पत्ति तथा विनाश शील यह संसार उस अज्ञान का ही फल है। परमात्मा सर्वात्म स्वरूप है, अतः उसका न तो जन्म ही होता है, न उसमें कार्य-कारण भाव ही है। आत्मदर्शी के लिए सभी अपनी आत्मा ही होता है। मायामय बीज से मायामय अंकुर ही अंकुरित होता है; इसी कारण मायामय बीज तथा उनसे निकला अंकुर ये दोनों ही असत्य हैं। इसी प्रकार जीव की उत्पत्ति तथा विनाश दोनों ही असत्य हैं। ये केवल शब्द मात्र हैं। स्वप्न दृष्टा का चित्त स्वप्न में भिन्न नहीं है।

यदि निमित्त न होता, तो चित्त की उत्पत्ति भी नहीं होती। उत्पत्ति के कारण स्वरूप धर्माधर्म के निरसन से उत्पत्ति नहीं होती; यही मोक्ष हैं उत्पत्ति का कारण चित्त का स्पन्दन मात्र है। इस विषय को अच्छी तरह से समझकर तुरियावस्था के आत्मतत्व को विशेषतः जानना चाहिए; इसे ही विज्ञान कहा जाता है। जो यह जान लेता है, उसका प्रारम्भ व अन्त नहीं होता। नाम, रूप, वस्तु, भाव कर्त्तव्य दायित्व

इत्यादि कुछ नहीं होता। अद्वैत यही समझता है कि सर्वमात्मैव याने सब आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं। आत्मा शून्य नहीं है।

यह माण्डूक्योपनिषद् अन्य सभी उपनिषदों में सबसे श्रेष्ठ है। इसमें दिये गये विचार अन्य उपनिषदों से अत्यन्त विलक्षण हैं। कर्म की प्रस्तावना इसमें अल्प भी नहीं है। केवल आत्मतत्व तथा उसका विचार मात्र इस उपनिषद् का विषय है।

बृहदारण्यकोपनिषद्

छठा सम्बोधन

बृहदारण्यकोपनिषद् शुक्लचन्द्रशाखा के अन्तर्गत है। इसके छः अध्याय हैं, जिनमें तीसरे तथा चौथे अध्यायों को छोड़ शेष चारों अध्याय कर्मणा उपासनाओं का समुचित वर्णन करते हैं। तीसरे तथा चौथे अध्यायों में याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को आध्यात्मिक तत्व का उपदेश किया है। इनमें याज्ञवल्क्य के आध्यात्मिक ज्ञान-वैभव का पूर्ण परिचय मिलता है। यह ज्ञान पिपासुओं के लिए उत्तम तारक सिद्ध होता है; अतः ये दोनों अध्याय याज्ञवल्क्य काण्ड के नाम से प्रख्यात हुए हैं। यह उपनिषद् दशोपनिषदों में अन्तिम उपनिषद् है। परिमाण में वृहत् (बड़ा) होने के कारण इस उपनिषद् को 'बृहत्' अरण्य (वन) में पढ़े जाने के कारण 'अरण्यक' तथा ब्रह्म ज्ञानोपदेश प्रधान होने के कारण उपनिषद् कहा गया है। इस प्रकार ये तीनों नाम मिल कर बृहदारण्यकोपनिषद् नाम पड़ा है।

विद्वानों ने, जिन्होंने इसके प्रथम दो अध्यायों को मधुर काण्ड, बीच के दो अध्यायों को मुनि काण्ड तथा अन्तिम दो अध्यायों को खिल खाण्ड नाम दिये हैं। खिल शब्द का अर्थ होता है अनुबन्ध, परिशिष्ट। पहले काण्ड में आधारभूत सिद्धान्तों या तत्वों का यथारूप प्रदर्शित किया गया है, दूसरे काण्ड में अनुभव के द्वारा इन्ही तत्वों का समर्थन किया गया है तथा तीसरे काण्ड में उनकी उपासना का बिधान बताया गया है। पहला काण्ड ज्ञानोपदेश प्रधान है, जिसमें कर्मोपासना का

समुच्चय रूप से उपदेश दिया गया है जो ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासुओं के लिए चार साधनायें बताई गयी हैं। उनके नाम पद, बीच, संख्या तथा रेखा हैं, इनमें पद के अन्तर्गत वेद तथा उस के अर्थबोध करने वाली स्मृतियों तथा बीज के अन्तर्गत सीधे गुरुमुख में समझाये गये वेद मन्त्रों का समुदाय है। संख्या दो प्रकार की होती है— वैदिक तथा लौकिक, वैदिक संख्या का अर्थ है मन्त्रों की गिनती, जो सत्व के सन्निहित साधन होती हैं; लौकिक संख्या सारे संसार (प्रपंच) के व्यवहार तथा समस्त लोगों के अनुभवों से सिद्ध होती है। रेखा भी संख्या के जैसे दो प्रकार की होती है— वैदिक रेखा तथा लौकिक रेखा। वैदिक रेखा वेद में वर्णित उपासना का अंग है तथा लौकिक रेखा विश्व से सम्बन्धित गणित का वर्णन करती है। मधुर काण्ड ब्रह्म तत्त्व का है, जिसमें शास्त्रों के प्रमाणों का मुख्य आधार मान कर तत्त्व विषयों व सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

अश्वमेधयज्ञ के अश्व का वर्णन यज्ञ आदि के देवता प्रजापति के स्वरूप में किया गया है, क्योंकि उसमें यदि प्रजापति के गुणों का अध्यारोपण करके उपासना करें, तो अश्वमेधयज्ञ का फल प्राप्त हो जाता है। इसी कारण इस अध्याय का नाम अश्वब्राह्मण भी पड़ा है। अवश्मेधयज्ञ वाली अग्नि का प्रजापति के रूप में उपासना करने की रीति का भी वर्णन किया गया है। प्रजापति ही प्रथम पुरुष है। उससे ही नाम-रूपात्मक जगत अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए उसे अग्निब्राह्मण भी कहा जाता है।

अविद्या से विकृत यह जगत नाम-रूपात्मक तथा अनात्मभूत है; अतः वैराग्य का कारण होता है। संसार में आसक्त चित्त का चिन्तन या मनन नहीं कर पाता। समस्त शब्द नामात्मक हैं। उनके लिए वाक् कारण है। समस्त रूपों का चक्षु कारण है। समस्त कर्मो

का शरीर कारण है। शरीर, वाक् आदि इन्द्रियों के रूप हैं। इस संसार से विमुख होने पर ही आत्मचिन्तन साध्य हो सकता है।

प्राण, इसके आधार स्वरूप शरीर, विविध ज्ञानों का तथा साधनों का जो स्थान स्वरूप है वह बुद्धि, आकार के द्वारा मिलने वाला बल, उस ज्ञान से मिलने वाला फल आदि इसमें वर्णित हैं। सहत्रों पुष्पों के रसों के संग्रह से जैसे शहद बनता है, वैसे ही इस जगत का सर्वभूतों के मिश्रण से निर्माण हुआ है। यह जल, वायु, पृथ्वी आदि पंचभूतात्मक जगत, धर्म सत्य, मनुष्य, प्राणी तथा विराट् पुरुष ये सब के सब ब्रह्म के कार्य से बने हैं। ब्रह्म ही अमृत है। यह ब्रह्म ज्ञान सर्वात्म-भाव का हेतु है।

विदेह राज्य के राजा जनक के बहु दक्षिणा वाले यज्ञ का आयोजन किया। उस यज्ञ के लिए कुरु-पांचाल आदि अनेक ब्रह्मविद पधारे थे। राजा जनक सहत्र गायों को जिनके खुर व सींग स्वर्ण मण्डित थे और सोने की जंजीरें पहनी थीं लाये और उन्होंने घोषणा की कि जो मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करेगा वह इन सहत्र गायों को ले जा सकता है। परन्तु वहाँ उपस्थित ब्रह्मवेत्ताओं में, किसी को उन गायों को ले जाने का साहस न था यद्यपि वे अपनी अपनी विद्याओं में पारंगत व अग्रगण्य थे। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि इन गायों को हांक कर आश्रम में ले जाओ। अब वहाँ उपस्थित ब्राह्मण कुपित हो याज्ञवल्क्य के ज्ञान और अनुभव की परीक्षा लेने को उद्यत हो गये।

सर्वप्रथम जनक के पुरोहित अश्वलय ने आगे बढ़कर प्रश्न किया। यह प्रश्न कर्मोपासना समुच्चय वाले प्राणात्मा की प्राप्ति के विधान से सम्बन्धित था। इस प्रश्न का याज्ञवल्क्य ने जो उत्तर दिया उससे प्राणों से आ-वेष्ठित ज्ञान प्राप्ति के साधनों का दिग्दर्शन होता है। यज्ञ की साधना के निमित्त ऋत्विक का वाक् अग्निस्वरूप होता

है, काल वायुस्वरूप होता है तथा यजमान के मन के इन्द्र के रूप में भावना (कल्पना) कर लेने पर मृत्यु से बचना सम्भव हो जाता है। इस प्रकार यज्ञ-योग और उपासनाओं का वर्णन किया गया है।

तदुपरान्त ऋषि भुज्यु ने पूछा, "पाप पुण्य का बोध करने वाली इन्द्रियों के बशवर्ति हो संसार में विचरने वाला पुरुष क्या एक ही है अथवा ऐसा कोई पुरुष नहीं है? यदि कोई ऐसा है तो उसके क्या-क्या लक्षण है?"

इस पर याज्ञवल्क्य ने समझाया, "तुम्हारी अपनी यह आत्मा ही वह आत्मा है जिसके सम्बन्ध में तुम प्रश्न कर रहे हो। यह तो करतल आमलकवत प्रत्यक्ष जानी जाती है। जैसे किसी चेतना शक्ति की सहायता के बिना केवल काष्ट-यन्त्र स्वयं संचालित नहीं हो सकता। वैसे ही यह शरीर-यंत्र विज्ञानमयी आत्मा से अधिष्ठित हुए बिना प्राण आदि क्रियाओं का आचरण नहीं हो सकता, हाथ पैर आदि का संचालन नहीं किया जा सकता। विज्ञानमयी आत्मा के संकल्प के फलस्वरूप ही प्राण आदि ही अपने-अपने कार्य कर पाते हैं। शरीर से किये जाने वाली दृश्य क्रिया का दृष्टा वही है। श्रवण क्रिया का श्रोता भी वही है, मन क्रिया का मननकर्त्ता भी वही है। शरीर के कार्य जैसे दर्शन, श्रवण, मनन आदि क्रियाये नश्वर हैं। उनका कारण दृष्टा व श्रोत् है; वह कारण चेतनात्मक है। वह मन के संयोग से इन्द्रियों के द्वारा तत्-तत् विषयों को जब ग्रहण करता है, तब इन्द्रियां क्रियाशील बनती हैं। वह चेतना ही आत्मा है, जो इन्द्रियों के लिए गोचर नहीं है। यह स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से भिन्न है। अपने अनुभव से ही यह जान लिया जा सकता है कि आत्मा क्या है? वह कैसा है? इत्यादि। सभी प्राणियों में वह समान रूप से स्थित है। सर्व सन्यास के द्वारा ही उस आत्मा को पाया जा सकता है। पुत्र, वित्त तथा दारा की एषणाओं (इच्छाओं) का परित्याग इसके लिए

अनिवार्य है। अतः सर्व प्रथम इन एषणात्रयी का त्याग करना चाहिए। एषणात्रय याने तीनों प्रकार की इच्छाएं एक ही जाति की हैं। कर्म न तो स्वयमेव हो पाते हैं, न उपासना से ही; बल्कि काम (इच्छा) के निमित्त हो पाते हैं। कर्म-साधना की इच्छा आवश्यक फल की इच्छा से ही होती है। ये सब सन्यास के विरुद्ध है। अतः जो साधक कर्म फल की इच्छाओं को त्याग नहीं पाता, उसे सन्यास प्राप्त नहीं हो पाता। अतः आत्मज्ञान आवश्यक है। जैसे प्रकाश तथा अन्धकार परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध हैं अर्थात् एक ही समय तथा एक ही स्थान पर दोनों नहीं रह सकते, वैसे ही कर्माचरण तथा आत्मज्ञान एक साथ नहीं हो पाते। सर्व कर्मों का परित्याग ही सन्यास है; भिक्षाटन भी कर्म ही है तथा सन्यास के विरुद्ध है।

प्राचीन काल के ब्राह्मण यह जानते थे। अतः वे एषणात्रय का परित्याग कर पूर्ण निवृत्ति मार्ग के द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर सके। आत्मा को समझ कर उसका साक्षात्कार करना ही पाण्डित्य है; यही बल है। जो साधक अनात्मज्ञान से सम्बन्धित समस्त विषयों का परित्याग कर देता है, वही ब्राह्मण है। ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य समस्त उपाधियां गौण हैं।

अब गार्गि की बारी आयी। ब्राह्मणों में वर्णित सर्वान्तरयामी तत्त्व का वर्णन इस उपनिषद् में किया गया है। जल के संयोग से ही पृथ्वी निवास योग्य हो सकी है। पृथ्वी से सम्बन्धित सकल धातु, स्वर्ण आदि जल से ही पिण्डिभाव में निवास के योग्य बने हैं। ऐसा नहीं होता तो बोये गये बीज जहां के तहां ही नष्ट हो जाते। यह अनुभव सिद्ध है; यह कार्य स्वरूप है; अतः सूक्ष्मतर जल सकारण ही व्याप्त है, यों विचार कर गार्गि ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि पृथ्वी किस आधार पर स्थित है? पृथ्वी, जल, आकाश, सूर्य, चन्द्र, देव, इन्द्र, प्रजापति, ब्रह्मलोक आदि क्रमशः पूर्वापूर्व भूत उत्तरोत्तर

भूतों से परमात्म तत्व से इस प्रकार व्याप्त है जैसे वस्त्र में सूत्र। इस तरह यह प्रश्नोत्तर के रूप में समझाया गया है। सामान्यतया यह मानव के कल्पनातीत है। ब्रह्म लोक के विषय का ज्ञान कल्पना के द्वारा नहीं हो पाता। केवल शास्त्रों के द्वारा ही जाना जा सकता है। गार्गि ने जो युक्तिपूर्वक प्रश्न किया याज्ञवल्क्य ने उसका खण्डन करते हुए कहा कि बुद्धि द्वारा इनका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह गुरु के उपदेश के द्वारा ही जाना जाता है, यह प्रश्न ब्रह्मलोक के सम्बन्ध में है। पृथ्वी, वायु के द्वारा व्याप्त तथा सशासित है। मानव में पांच कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, पांच प्राण, मन तथा बुद्धि ये सत्रह एक साथ मिले होते हैं और पूर्व कर्मवासनाओं से सम्बन्धित समष्टि तथा व्याप्ति स्वरूप हैं। पृथ्वी से विकृत लिंग शरीर वायु से व्याप्त है। वायु का बाह्य रूप उन्चास मरुद्गुण वायु से एक रूप में जुड़े होते हैं। हार की मुक्ताएं सूत्र में जुड़ी होती हैं। वायु जब शरीर से निकल जाता है, तब सारे अंग मरुद्गुण अलग-अलग हो जाते हैं। तब शरीर की प्रेत संज्ञा हो जाती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण में सारे संसार (प्रपंच) में जो व्याप्त है उसे अन्यर्यामी कहा जाता है। जिसको कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं है, जिसके निमित्त यह शरीर बना है तथा जो अविनाशी है, भीतर रहकर उसे नियन्त्रित रखता है वही अन्तर्यामी है; वह मरण रहित है; वही आत्मा है।

सभासदों की अनुमति लिए बिना ही सभा में जैसे मन चाहा वैसे बोलना या शास्त्रार्थ करना नियम तथा शिष्टाचार के विरुद्ध माना जाता है; अतः सभासदों की अनुमति लेकर गार्गि ने अपना दूसरा प्रश्न किया। वह प्रश्न यह था कि भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालों में व्याप्त रहने वाली सूत्रात्मा इस द्वन्द्वमय जगत में किससे व्याप्त है? गार्गि का उद्देश्य था कि इससे याज्ञवल्क्य पराभूत हो जायेंगे और उनको स्वीकार करना पड़ेगा कि यह कालातीत आत्मा

का वर्णन शब्दातीत है। इससे यह भी स्पष्ट है कि गार्गि को भी ब्रह्मविद्या का प्रकाण्ड ज्ञान था तथा उस काल में ब्रह्म विद्या के क्षेत्र में स्त्री पुरुष में कोई भेद नहीं था। याज्ञवल्क्य ने उत्तर में बताया कि अव्याकृत आकाश से और इस प्रकार अपने को उस परिस्थिति से बचाया। इस पर गार्गि ने दूसरा प्रश्न पूछा कि आकाश किससे व्याप्त है? याज्ञवल्क्य ने भी इस प्रश्न का उत्तर बड़ी ही बुद्धिमानी से दिया। उन्होंने बताया कि वह अनिर्वचनीय है, वह भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों के परे है, उसका वर्णन क़िया नहीं जा सकता। यदि यह अनिर्वचनीय कौन है, आदि का वर्णन कर दिया होता तो याज्ञवल्क्य को अपनी हार मान कर वहां से भाग जाना पड़ता। इसी विचार से ही गार्गि ने वह दूसरा प्रश्न पूछा था। इससे ज्ञात होता है कि गार्गि भी ब्रह्मज्ञ के पद की आकांक्षा रखती थी।

उत्तर में यह बता कर कि ब्रह्मविद् यही घोषणा करते हैं कि अविकृत आकाश में जैसे अक्षर परब्रह्म व्याप्त है, इस प्रकार याज्ञवल्क्य गार्गि से उत्पन्न की गयी विषम परिस्थिति से बाल बाल बच गये। पश्चात याज्ञवल्क्य ने अक्षर के स्वरूप का वर्णन इस तरह किया:— स्थूल, सूक्ष्म, नाप, परिमाण, वर्ण, गन्ध इत्यादि द्रव्यधर्म उस अक्षर के नहीं हैं; अतः वह द्रव्य से भिन्न है। उसे समझाने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है। समस्त क़ाल उसी की आज्ञा पर प्रवर्तित होते हैं, अब इसका अधिक विस्तार करने की क्या आवश्यकता है? सूर्य, चन्द्र आदि तथा पंचभूत उसी की आज्ञा के अनुसार ही संचालित होते है। याने अपने अपने कार्य करते हैं। यह सुनकर गार्गि ने वहां उपस्थित ब्रह्मविदों से कहा कि सब लोग याज्ञवल्क्य को प्रणाम करिये। वह सब से श्रेष्ठ हैं। तदन्तर वह मौन हो गयी।

सूर्यकान्ति के समान आत्मप्रकाश सहज है। यह बताया जाता है कि आत्मा या आत्मप्रकाश का दर्शन मैंने किया है, परन्तु वास्तव

में आत्मा दीख नहीं पड़ती। क्योंकि आत्मा अद्वितीय है, जिसका दृष्टा और कोई नहीं होता। आत्मा ज्योति मात्र है। उसके दर्शन आदि विभिन्न नाम केवल व्यवहार में आते हैं; वास्तव में उसके ये दर्शन आदि रूप मिथ्या हैं। आत्मा अवयव रहित है, अतः उसके दर्शन आदि की कल्पना करना असम्भव है। ब्रह्मानन्द, परमानन्द इत्यादि अन्य आनन्द विषयेन्द्रियक कारण सम्भव होते हैं, अतः ये आनन्द भी अनित्य है। अन्य समस्त आनन्द ब्रह्मानन्द के ही अंश हैं। मनुष्य के आनन्द से लेकर ब्रह्मानन्द तक समस्त आनन्द एक से एक बढ़कर हैं। ये सब परमानन्द की तुलना में तुच्छ और निम्न हैं। परमानन्द की अवस्था में मान तथा अपमान आदि भावनाएं ही नहीं होतीं। इस प्रकार जो कुछ भी ज्ञात है उसे याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को श्रद्धा तथा उत्साह पूर्वक बताया। शरीर अपने पूर्व अनुभवों के अनन्तर ऐसे ही बिगड़ जाता है जैसे वृक्ष में उत्पन्न फल सड़ने लगता है। जब शरीर यों बिगड़ जाता है तब जीव दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। शरीर से निकल जाने पर पुरुष की वाक् आदि समस्त इन्द्रियां उसके साथ ही साथ निकल जाती हैं; श्वास ऊर्ध्व गति को प्राप्त होता है। मरण काल में वाक् आदि समस्त इन्द्रियां उपसंहृत हो जाती हैं; परन्तु आत्मा उपसंहृत नहीं है। पुण्य कर्मों से पुण्य तथा पाप कर्मों से पाप मिलता है। समस्त पूर्व वासनाएं नवीन शरीर की उत्पत्ति का कारण होती है। विज्ञानमयी यही आत्मा नूतन शरीर को देख अपने पूर्व शरीर को छोड़ देती है। परन्तु आत्मज्ञानी में शरीर की उत्पत्ति के कारण स्वरूप काम (इच्छा) नहीं होते; अतः शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता; इस शरीर से उसे कोई प्रयोजन भी नहीं है; वह शरीरी भी नहीं होता। ज्ञान मार्ग ही ब्रह्मविद् का अपना मार्ग होता है। कर्माचरण प्रधान व्यक्ति तपस्या मार्ग अपनाते हैं आत्मज्ञानी में अल्प भी कामना नहीं होती; अतः मानसिक

सन्ताप उन्हें नहीं होता। ये लोग ही विश्वकर्त्ता हैं। ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त ज्ञानी को अपनी रक्षा के निमित्त या किसी भी अन्य कारण के कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं होती।

शास्त्रों के तर्क के द्वारा समझे गए आत्मज्ञान तथा उनकी साधना सन्यास के अनुभव से सम्प्राप्त ज्ञान जिसे याज्ञवल्क्य ने अपनी भार्या मैत्रेयी को उपदेश किया वह बहुत ही मुख्य है। समस्त सांसारिक (प्रापंचिक) वस्तुओं को तथा इन्द्रियादि पदार्थो को मनुष्य को स्वप्न समझना चाहिए। उनकी कामना (इच्छा) करने से कोई प्रयोजन नहीं है। केवल एक आत्मा ही परम प्रेमास्पद है। आत्मा के कारण ही अन्य समस्त पदार्थ प्रेमास्पद होते हैं। आत्मा को जो जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है। समस्त कार्य कारण में लय हो जाते हैं। जैसे समस्त जलों का गम्य स्थान समुद्र ही होता है, वैसे ही समस्त रसों का रसनेन्द्रिय (जिह्वा), रूपों का चक्षु, शब्दों का श्रवण, तथा संकल्पों का मन गम्य स्थान है। इस प्रकार सारा जगत ब्रह्म में लय हो जाता है।

याज्ञवल्क्य ने भुज्यु के प्रश्न के उत्तर में अपने ब्रह्माण्ड-निर्माण के ज्ञान को व्यक्त किया है। गार्गि के दो प्रश्नों के उत्तर में मुख्यतः साक्षात परोक्ष ब्रह्म का स्वरूप समझाया है। शाकल्य ब्राह्मण में उन्होंने अपनी विद्या के वैभव का सुन्दर परिचय देकर श्रोताओं के मन को आश्चर्य मग्न कर दिया है। जनक की सभा में उठे प्रश्नों के उत्तर बड़े ही सामर्थ्य-पूर्वक देकर विजय वैजयन्ति ग्रहण की तथा जनक को अपने उपदेशामृत से पुनीत कर दिया। चालाक भुज्यु का सामना कर उनके विषम प्रश्नों को तथा गार्गि के दो प्रश्नों को अपनी सूक्ष्म बुद्धि से ग्रहण कर उसके उपयुक्त उत्तर दिए। जनक की शंकाओं को दूर कर उन्हें निश्चित ज्ञान दिया। जनक की सभा में गार्गि के माध्यम से अपूर्व योग्यता-पत्र प्राप्त कर पण्डित कुल के

गौरव मुकुटमणि बने। यों जहां कहीं भी याज्ञवल्क्य परिचित होते हैं, वहां अपनी योग्यता की छाप छोड़ते ही जाते दीख पड़ते हैं। अन्य कोई भी उनकी योग्यता की समानता करने वाला उस समय नहीं रहा। इसके पूर्व जिन विविध आचार्यों ने विशेष उपदेश दिए थे, उनकी योग्यता के आधार पर याज्ञवल्क्य की योग्यता का मूल्यांकन कर तथा उनके उपदेशों की यथार्थता को समझ जनक ने बड़ी प्रशंसा की है। यह जानकर कि अब यहां अपने करने योग्य कोई कार्य नहीं है, याज्ञवल्क्य ने सन्यास लेने का निश्चय किया। उन्होंने अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयी के सम्बन्ध में यह जानकर कि अब वह भी ब्रह्मचिन्तासक्त है, उसे भी ब्रह्मज्ञानोपदेश दिया। मालूम होता है कि उन दिनों में स्त्रियां भी आत्मोपदेश योग्य मानी जाती थीं।

प्रश्नोपनिषद्

सातवाँ सम्बोधन

प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद का एक अंग है। प्रश्नोत्तर के रूप में विषयों का वर्णन होने के कारण इस उपनिषद् का नाम प्रश्नोपनिषद् पड़ा है। मुण्डकोपनिषद् में संक्षिप्त रूप में वर्णित कुछ विषयों को लेकर इसमें सविस्तार समझाया गया है। इसी कारण यह प्रश्नोपनिषद् मुण्कोपनिषद् का भाष्य माना जाता है।

मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है कि विद्या दो प्रकार की है— पराविद्या तथा अपराविद्या; अपराविद्या के दो भाग हैं— कर्म तथा उपासना। इन दोनों में उपासना का विचार इस उपनिषद् के दूसरे तथा तीसरे प्रश्नों के अन्तर्गत किया गया है। समस्त कर्मों के विधानों का कर्मकाण्ड के अन्तर्गत विचार किया गया है। परन्तु इसकी सविस्तार व्याख्या नहीं की गयी है। कर्म तथा उपासना में निष्काम्य आचरण सन्यास तथा वैरागय की वृद्धि में सहायत सिद्ध होते हैं। इसी का वर्णन प्रथम प्रश्न में किया गया है। मुण्डकोपनिषद् का अध्ययन कर लेने के पश्चात् प्रश्नोपनिषद् का अध्ययन करने से विषय स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है।

यह समझ कर कि नित्यमय पुरुषार्थ को प्राप्त करने में अपरब्रह्म साधन के रूप में प्रयोग नहीं हो पाता; उस अक्षयफल परब्रह्म को प्राप्त करने की आकांक्षा से अन्वेषमाण सुकेश, सत्यकाम, सौर्यायणी, आश्वलायन, भार्गव तथा कबन्धी महात्मा पिप्पलाद महर्षि के आश्रम में आये। अपरब्रह्म में मग्न थे, यह न समझते थे कि अपना स्वरूप

ही आत्मा है, अतः इसी कारण उन आगन्तुकों के लिए 'अन्वेषमाणा' शब्द का प्रयोग इस उपनिषद् में किया गया है। अद्वितीय परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान गुरु अथवा शास्त्रों के द्वारा ही सम्भव हो पाता है; अतः छः जिज्ञासुओं ने स-समिधि-पाणि जैसे गुरु को प्रिय लगे वैसे ही सानुनय-विनय तथा आश्रम की उपयुक्त रीति के अनुसार महात्मा पिप्पलाद महर्षि से आश्रय पाने की आकांक्षा प्रदर्शित की। इनसे महात्मा पिप्पलाद महर्षि ने जो प्रतिवचन किया, वही परम रहस्य व गोप्य ब्रह्मविद्या है। सामान्यतः योग्यता विहीन को उपदेश देना उत्तम नहीं है, अतः परब्रह्म ज्ञान की जिज्ञासा से जो छः महर्षि आये उनकी योग्यता जान लेने के निमित्त महात्मा पिप्पलाद महर्षि ने एक सम्बत्सर की अवधि दी। याने एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन इस आश्रम में रह कर करने की अनुज्ञा दी। एक वर्ष की अवधि की समाप्ति पर कात्यायन ने महात्मा पिप्पलाद महर्षि से पूछा कि किस कारण विशेष से यह प्रज्ञा नाना रूपों में उत्पन्न होती है? सन्तति की कामना रखने वाला ही प्रजाकाम है। स्वयं अपने आप ही सन्तति के रूप में सृष्टित होने की कामना ही प्रजाकाम है। परमात्मा से अभिन्न होने के कारण हिरण्यगर्भ ही प्रजापति है। इस कल्प के हिरण्यगर्भ जो प्रजापति है, वहीं पश्चात प्रजाकाम होता है। जो अपने जन्मान्तर में अनुश्रित अपराविद्या के कर्म समुच्चय से सम्पन्न है। तत्कृत ज्ञान को आधार बनाकर वह उत्पादन करता है। यही उसकी अपनी तपस्या है।

सूर्य अपनी किरणों के माध्यम से दस दिशाओं में व्याप्त हो समस्त प्राणी समुदायों को उद्दीप्त करता है। प्रजापति का स्वात्मभाव इसमें होने के कारण दिग्ज्ञाता में भी प्रजापत्य स्वात्मभाव होता है, अतः "प्राण" शब्द आदित्य का पर्यायवाचक है। समस्त जीवों को भोजन देने के कारण आदित्यस्वरूप ही है इसलिए सूर्य वैश्वानर भी

कहा जाता है, याने प्राणियों के शरीर में वैश्वानर नाम से परिचित होने वाली जठराग्नि है, जिसमें अन्न का पाचन होता है। वह सूर्य का ही अंश है; अतः सूर्य वैश्वानर भी कहा जाता है। सकल संसार (प्रपंच) उसी का स्वरूप है, अतः सूर्य विश्वरूप भी कहा जाता है। विश्व की जठराग्नि के रूप में वैश्वानर तथा विश्व ही उसका स्वरूप होने के कारण सूर्य विश्वरूप कहा जाता है। सूर्य के ये दोनों नाम विख्यात हैं।

सूर्य के संचार पर आधारित यह सम्वत्सर शब्द काल का बोधक है। अहोरात्रि याने दिन रात का समुदाय ही काल है। सूर्य के ही कारण संसार में दिन-रात होते हैं। चन्द्र के संचार से ही तिथियां होती हैं। सूर्य तथा चन्द्र का मिथुन प्रजापति की उत्पत्ति का कारण होता है; अतः सम्वत्सर तथा उसके अनेक विभाग जैसे अयन, मास, पक्ष, सप्ताह आदि काल विभाग भी प्रजापति के स्वरूप माने जाते हैं। प्रजापति दक्षिणायन तथा उत्तरायण याने दक्षिणी व उत्तरी मार्ग भी हैं। प्रजापति की उपासना को भी यहां ज्ञान ही कहा जाता है। जिस साधक ने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में किया है, जो वेदों में विश्वास रखता है तथा वेदों का पूर्ण ज्ञान रखता है, वह प्राणस्वरूपी जीवात्मा को सम्यक जानकर उत्तरायण के मार्ग से सूर्य-लोक जा पहुँचता है। यह लोक सकल प्राणों का आश्रय है। जो साधक उपासना समेत निष्काम्य कर्म का आचरण करता है, वह भी वहीं जा पहुँचता है। कालात्मा सूर्य बसन्त आदि पांच ऋतु रूपी पांच चरण वाला है तथा द्वादश मास उसकी बारह आकृतियां हैं अर्थात् उसके बारह शरीर हैं। चौथे तथा छठे मन्त्र में बताया गया है कि आदित्य समस्त लोकों का कारण है। सूर्य के कारण ही वर्षा भी होती है, अतः यह भी माना जाता है कि तीसरे लोक याने धुलोक का वह नायक है, जहां से वह जल वर्षाता है।

शरीर के निर्माण में आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा भूमि पंच महाभूतों के अभिमान युक्त देवताओं, कार्य स्वरूप वाक् आदि कर्मेन्द्रियों की योग्यता तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों की योग्यता के अभिमान युक्त देवता, मन और बुद्धि के अभियानयुक्त देवता आदि कार्य-कारण संघातात्मक इस शरीर रूपी इमारत के अवलंबन स्वरूप स्तम्भ हैं, अतः ऐसा लगता है कि वह स्वयमेव खड़ा है।

पंच महाभूतात्मक पृथ्वी से शरीर उत्पन्न हुआ है, अतः शरीर पंच-महाभूतों का कार्य होता है। ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान के साधन होती हैं, अतः कारण होती है। यह शरीर कार्य-कारण संघात है, जैसे पहिये के आरे चक्रनाभि से जुड़े होते हैं, वैसे ही श्रद्धा आदि समस्त गुणों की स्थितियां प्राण से ही प्रतिष्ठित याने जुड़ी होती है। इस प्रकार ऋक्, यजुर तथा साम इनके त्रिविध मन्त्र, उन मन्त्रों से किये जाने वाला यज्ञ, प्रज्ञा के परिपालन में समर्थ क्षात्र, यज्ञ आदि में अधिकृत होने वाले ब्राह्मण आदि ये सब प्राण स्वरूप ही होते है। जब प्रजापति मेघ के रूप में वर्षा करता है, तब ही समस्त प्रज्ञाएं जीवन पाती हैं, यों प्राण का भोक्तृत्व तथा प्रजापतित्व व्यक्त किया गया है। संसार सर्व उपभोग का केन्द्र है, जो तुम्हारे ही अधीन है, अतः माँ के जैसे तुम हमारा पालन करो। ब्रह्म तथा क्षत्र के सम्बन्धों की सम्पदा तथा सम्पन्नताओं का कारण तुम्हीं हो, अतः वह सम्पदा तथा प्रज्ञा तुम्ही हमें प्रदान करो। ऋक्, यजुर तथा साम के मन्त्र ब्रह्म सम्पदा है तथा धन आदि क्षत्रिय सम्पदा हैं। इस प्रकार इस उपनिषद् में प्राण का प्रजापति के रूप में तथा उसके कार्य व गुणों का वर्णन किया गया है।

तदुपरान्त भार्गव के प्रश्नों का महात्मा पिप्पलाद महर्षि ने उत्तर दिया, पश्चात् कौशल्य आश्वलायन ने प्राण के सम्बन्ध में प्रश्न किये। तब महात्मा पिप्पलाद ने समझाया, "वत्स! जैसे पुरुष के होने

पर ही छाया होती है; उसी प्रकार यह उत्तम प्राण परमात्मा से ही आश्रित है। आत्मा की छाया के रूप में यह प्राण मन के लिए गए संकल्पों के कारण शरीर में प्रवेश करता है। जैसे कोई सम्राट अपने दूरस्थ इलाकों का परिपालन करने के निमित्त भिन्न-भिन्न अधिकारियों को अलग-अलग नियुक्त करता है, वैसे ही यह मुख्य प्राण दूसरे प्राणों को पृथक-पृथक स्थापित कर उनसे अपना-अपना कार्य करवाता है। मुख्य प्राण आदित्य रूप है जो अन्य अधिदेवों को प्रेरित करता है। जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि से उसी के ही समान गुण-रूप वाली हजारों चिनगारियां, नाना प्रकार से प्रकट होती है, वैसे ही अक्षर परमात्मा से विविध भाववाले मूर्त तथा अमूर्त पदार्थ प्रकट होते हैं तथा कालान्तर में उसी में विलीन हो जाते हैं। यही मुण्डक के २-१-१ के मन्त्र में बताया गया है।

तदनन्तर गार्गि के प्रश्न के उत्तर में महात्मा पिप्पलाद महर्षि ने समझाया। अस्त होने वाले सूर्य की समस्त किरणें तेजोमण्डल वाले सूर्य में ही एक हो जाती हैं। ये ही किरणें सूर्य के उदय होने पर पुनः सब ओर फैलने लगती हैं। उसी प्रकार स्वप्न के समय विषयेन्द्रियों के समस्त संघात चैतन्य के प्रतिबिम्ब में प्रकाशित मन में विलीन हो एक हो जाती हैं। निद्रा से जाग उठने पर जाग्रतावस्था में उन विषयन्द्रियों के समस्त संघात सूर्य किरणों के जैसे ही बहिर्गत हो जाते हैं, अतः अपने अपने कार्यों का अनुभव करने लगते हैं। इसी कारण स्वप्नावस्था में पुरुष न तो सुनता है, न देखता है, न तो स्पर्श ही करता है, न किसी सुख भोगों का अनुभव ही करता है और न चलता-फिरता ही है।

स्वप्नावस्था में स्वयं प्रकाश आत्मा जाग्रतावस्था में जो कुछ करता, देखता, सुनता या अनुभव करता है, उन्हीं के अनुसरण पर वासना के रूप में उन्हें ही देखता है। आत्मा तो सब का आश्रय है।

अतः उसका आश्रय पाकर सब उसमें भिन्न-भिन्न रूप में स्फुरित हुए हैं। इसीलिए यह बताया जाता है कि सर्वाधार परमात्मा तथा जीव में पाये जाने वाले भेद उपाधिकृत हैं, न कि सत्य। अतः महात्मा पिप्पलाद महर्षि ने बताया कि ओंकार के ध्यान से वह लोक प्राप्त होता है, जो लोक ब्रह्म के ध्यान से उपलब्ध होता है।

पश्चात् भारद्वाज के पुत्र सुकेश ने जो प्रश्न किया, उसका महात्मा पिप्पलाद महर्षि ने इस प्रकार उत्तर दियाः— "तुमने जिस पुरुष के सम्बन्ध में पूछा है वह इस शरीर के भीतर ही हृदयाकाश के रूप में रहता है। उससे ही सोलह कलाएं प्रकट होती हैं तथा उसी में ही विलीन हो जाती हैं।" तैत्तरीय के द्वितीय अनुवाक में यह बताया गया है कि मील के पत्थरों के जैसे ही पृथ्वी, औषध, अन्न तथा पुरुष ये चारों एक में से एक उत्पन्न होते हैं। औषध आदि पुरुषार्थों की सृष्टि की प्रक्रिया यहां स्पष्ट बतायी गयी है। पुरुष के अवयव ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की सृष्टि के सम्बन्ध में पहले ही बताया जा चुका है। अतः उनके अंग स्वरूप पुरुष की सृष्टि भी वैसे ही होती है। समस्त सरिताएं सागर की ओर प्रवाहित हो अपने अपने नाम-रूपों को खो बैठती हैं। समुद्र से मिली समस्त नदियां समुद्र ही कहलाती हैं। केवल पुरुष मात्र समुद्रवत शेष रहता है। वह पुरुष सकल कलाओं से रहित है तथा मृत्यु रहित है। महात्मा पिप्पलाद महर्षि ने कबन्धी आदि अपने शिष्यों को बताया कि वेद परब्रह्म के सम्बन्ध में मैं इतना ही जानता हूँ। इसमें अधिक समझाने के लिए कुछ भी नहीं है। महात्मा पिप्पलाद महर्षि के प्रति इन छः शिष्यों द्वारा कृतज्ञतापूर्ण किए गए प्रणाम के साथ ही साथ इस उपनिषद् की समाप्ति हुई है। सामान्यतः पिता केवल भौतिक शरीर प्रदान करता है, परन्तु आत्मतत्व के उपदेश के द्वारा महात्मा पिप्पलाद महर्षि ने उन्हें ब्रह्मशरीर प्रदान किया।

अपरब्रह्म के निष्ठावन्त सुकेश, सत्यकाम, सौर्चायणी, आश्वलायन, भार्गव तथा सम्बन्धी इन छः ऋषियों ने परब्रह्म की जिज्ञासा से प्रेरित हो महात्मा पिप्पलाद महर्षि से क्रमशः छः प्रश्न पूछ थे। मुण्डकोपनिषद् के प्रथम खण्ड में पर तथा अपर स्वरूप वाले ब्रह्म का जगत्कारणत्व सूचित किया गया है तथा अन्तिम भाग में उसकी अनित्यता की पुष्टि की गयी है। परब्रह्म तथा अपरब्रह्म के प्राप्त करने में ओंकार का उपाय तथा उसके परम तत्व छठे प्रश्न में सविस्तार समझाया गया है। ये ही छः प्रश्न उपनिषद् में एक के उपरान्त एक सहेतुक पूर्वक पूछा गया है, जिसका उत्तर महात्मा पिप्पलाद महर्षि ने सविस्तार समझाया है। इस प्रकार सारा विषय मुण्डकोपनिषद् की व्याख्या के रूप में बताया गया है।

१. परब्रह्म तथा अपरब्रह्म क्या है?
२. सृष्टित की गयी प्रज्ञाएं किस से संरक्षित होती हैं?
३. परमात्मा से हिरण्यगर्भ कैसे उत्पन्न हुआ?
४. उससे सृष्टि कैसे होती है?
५. चैतन्य विशिष्ट प्राण, शरीर में प्रवेश कर पांच प्रकार कैसे विभक्त हुआ है?
६. जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्थाओं में कौन-कौन सी इन्द्रियां काम करती हैं?

ये ही इस उपनिषद् के ६ प्रश्न हैं।

केनोपनिषद्

आठवाँ सम्बोधन

सामवेदीय तलवकार के अन्तर्भाग से सम्बन्धित होने के कारण इस उपनिषद् को तलवकारोपनिषद् भी कहा जाता है। इस उपनिषद् के प्रथम खण्ड के प्रथम श्लोक 'केन' शब्द में आरम्भ होने के कारण इसे केनोपनिषद् भी कहा जाता है।

केनेषितं पतीत मनः केन प्राणः प्रथम, प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां बदन्ति चक्षुः श्रोतं क उ देवो युनक्ति ॥१॥

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा ध्राण इन पंचेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध में क्रमशः विषय होते हैं। संसार के समस्त ज्ञेय विषय इन पांचों इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञात होते हैं। विषयों को समझने वाली अन्तःकरण की शक्ति को ही मन कहा जाता है। वह मन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बहिर्गत इन विषयों से जब सम्बन्धित होता तब वह आकार पाता है। विविध विषयों के आकारों को प्राप्त करने की मानसिक स्थिति 'वृत्ति' कही जाती है। मन अचेतन है, अतः उसके विकार भी अचेतन ही होते हैं। काठ की पुतली काठ (लकड़ी) धर्म की होती है, मथा शक्कर की पुतली शक्कर-धर्म की ही होती हैं, क्यों है न ऐसा ही? अतः अचेतन वाले अन्तःकरण से हमें चेतन बाह्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता, यह अनुभव सिद्ध है। चेतन से साध्य होने वाली ज्ञान-क्रिया अचेतन में चेतिन नहीं होती। सचेतन रथ को जैसे सारथी उसमें बैठ कर चलाता है, हांकता है उसी तरह

सारथी के रूप में कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय में लिप्त मानस को चलाने वाला कोई एक चेतन पदार्थ होना ही चाहिए।

अन्तःकरण, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा पंच प्राण किसी एक शक्ति के द्वारा ही संचालित होते हैं। वह शक्ति ही ईश्वर है। वह चेतनकर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न है कि नहीं, इसका अनुमान प्रश्न के द्वारा भी किया जा सकता है। जैसे इन सर्वेन्द्रियों का अधिष्ठता कौन है? वह मन से भिन्न ही होना चाहिए न! कर्म तथा कारण अनित्य हैं. यह जान कर वैराग्यपूर्वक नित्यवस्तु स्वरूप को समझने की इच्छा रखने वाला उसे समझने का प्रयत्न करता है, उस नित्य वस्तु को जानने के लिए ही प्रयत्न करता है। वह नित्यवस्तु निष्कलंक है। अतः उसकी कोई इच्छा या क्रिया नहीं होती, क्योंकि यह वस्तु निज इच्छा, क्रिया आदि से मन इत्यादि इन्द्रियों को आज्ञा देने में समर्थ नहीं है। अतः प्रश्न उठता है कि क्या मन, प्राण, वाक् चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियां कार्य-कारण संघात से प्रभावित हो अपना अपना कार्य करती हैं अथवा चेतनवस्तु की इच्छा से प्रवृत्त होती है? शब्दों को ग्रहण करने की शक्ति श्रोत (कान) में तथा रूप को ग्रहण करने की शक्ति चक्षु में नहीं है। ऐसे ही अन्य ज्ञानेन्द्रियों में भी अपने अपने विषयों को ग्रहण करने की शक्ति नहीं है। जब मन ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विषयों का संयोग करता है तब हमें विषयों का ज्ञान हो पाता है। इससे पंचेन्द्रियाँ तथा मन ज्ञान का कारण होते हैं, वे अचेतन हैं। चेतन वस्तुओं से साधित होने वाले कार्यों को वे कैसे क़र पावेंगे? नित्य, असंहत, सर्वान्तर आत्मा के सानिन्ध्य से वे यह सामार्थ्य पाते हैं। यदि आत्मज्योति नहीं होती, तो वे यह सामर्थ्य नहीं पा सकते।

श्रुति-वाक्य से ज्ञात होता है कि जैसे सूर्य धरा को तपाता रहता है, वैसे ही ब्रह्मस्तम्ब वाला सारा जगत आत्मा के तेजस से व्याप्त

है। यही इस उपनिषद् में कहा गया है। समस्त इन्द्रियां आत्मा के तेजस से ही अपना अपना कार्य कर रही है। एक उदाहरण लीजिए— करण्ट याने विद्युत्शक्ति यन्त्रों के द्वारा छेदना, काटना, छपाना आदि क्रियायें करती हैं। परन्तु विद्युत्शक्ति तथा मन्त्र में अन्तर न देख हम यह कह बैठते हैं कि यन्त्र ही छेदन, मुद्रण आदि कार्य करता है, क्यों है न ऐसा ही? वास्तव में विद्युत्शक्ति के प्रसारण के कारण ही छेदन यन्त्र को छेदत्व तथा मुद्रण यन्त्र का मुद्रकत्व प्राप्त होता है। याने विद्युत्शक्ति ही इन समस्त कार्यों को करता है, यन्त्रों का मात्र है। इसी प्रकार आत्मज्योति ही श्रोतों का श्रोत्र है, चक्षुओं का चक्षु है। आत्म-ज्योति के प्रसारण से ही मन इत्यादि समस्त इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य करने में समर्थ हुई हैं। यह आत्मतेज ही सभी इन्द्रियों के अपने अपने नाम-रूपों के नाम-रूप हैं।

यह आत्मतेज निष्क्रिय तथा निरूपाधि (निर्विशेष) है। अतः निष्क्रिय होने के कारण मन तथा ज्ञानेन्द्रियों से कोई भी कार्य नहीं बनता, परन्तु उसके सान्निध्य से विविध इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य करने की क्षमता पाती हैं। निष्क्रिय सूर्यकान्ति के प्रसारण से ही समस्त जड़-चेतन पदार्थ सक्रिय होते हैं। निर्विशेष आत्मतेजस ही श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा उनके उपयुक्त रूप में अभिव्यक्त होता है। (इस अत्यन्त गुप्त रहस्य का वरुण ने अपने पुत्र भृगु को उपदेश दिया था)।

आत्मज्योति से उद्दीप्त चक्षु अपने विषयरूप को ग्रहण करता है; न तो अपने आप ही प्रकाशित होता है और न आत्मतेजस को प्रकाशित करता है। दीपक से प्रकाशित होने वाली अन्य वस्तुएं दीपक को प्रकाशित नहीं कर पातीं। वाक् केवल उन्हीं पदार्थों का वर्णन कर सकता है जिसके नाम, रूप, गुण, क्रिया आदि विशेषण होते हैं। परमात्मा नाम-रूप रहित, निर्गुण, निष्क्रिय तथा विरुपाधि

(निर्विज्ञेय) है, अतः उसका वर्णन वाक् से कैसे किया जा सकता है? जबकि माधुर्य, तिक्त आदि रसों का वर्णन वाक् द्वारा नहीं किया जा सकता, तब आत्मा का वर्णन कैसे हो सकता है? आत्मा वाक् (वर्णन) का विषय नहीं है। अचेतन मन चेतन का अनुभव नहीं कर सकता, अतः आत्मतेजस को मन नहीं जान पाता। सब को जानने वाले ज्ञाता को जानने वाला दूसरा ज्ञाता कोई नहीं है। अतः वह ज्ञातव्य के परे है। यदि वह जान लिया जावे तो फिर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद ही न रह जायेगा।

ब्रह्म विज्ञान स्वरूप ही है; अतः उसे जानने का प्रयत्न करना सम्भव नहीं है। विज्ञान से अन्य सब कुछ जान लिया जा सकता है, पर विज्ञान द्वारा स्वयं विज्ञान को जानना सम्भव नहीं है। दीपक अपने रूप की अभिव्यक्ति के लिए न तो अपना प्रकाश चाहता है, न दूसरा कोई दीपक ही। दीपक का प्रकाश दूसरों को प्रकाशित करता है, पर अपने आप को प्रकाशित नहीं करता। सो तुम्हीं प्रकाश हो, तुम्हीं आत्मा हो; श्रुतियों में भी बताया गया है कि आत्मा को जान लेना चाहिए। आत्मा सर्वात्म स्वरूप है। वही आत्मा सब जीवों में वर्तमान है। अद्वितीय होने के कारण आत्मा का हेयोपादेयत्व नहीं होता। आत्मा का कोई गुण, उपाधि या सीमा नहीं है।

यह आत्मस्वरूप शास्त्रों से ही जाना जा सकता है। वागेन्द्रिय याने वाणी के द्वारा जो बताया नहीं जा सकता है, जिससे वाणी बोली जाती है अर्थात जिसकी शक्ति से वक्ता बोलने में समर्थ होता है, उसे ही तुम ब्रह्म समझो। इस उपनिषद् के प्रथम खण्ड से ज्ञात होता है कि ब्रह्म न तो हेय है, न उपदेय ही है। अतः वह मानना कि मैं ब्रह्म का साक्षात्कार करना जान गया हूँ, केवल ब्रह्म स्वरूप का मीमांसा ही होगा। ब्रह्म को जान लेने का यह ज्ञान वास्तव में यथार्थ ज्ञान नहीं है। भ्रम मात्र है। वेदान्त का निश्चित कथन यही है न कि

आत्मा जो ज्ञाता है वही ब्रह्म है? अग्नि जैसे अपने आप को जला नहीं सकती है वैसे ही ज्ञाता अपने आपको ज्ञात नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मा आत्मा को नहीं जान पाता। इसी कारण यह वाद करना मिथ्या ज्ञान है कि मैंने ब्रह्म को जान लिया।

महात्माओं ने ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा है कि ब्रह्म के अगणित गुण व नाम व रूप है। ब्रह्म स्वयं ही नाम-स्व उपाधि धारण करके अनेक रूप पाता है। परन्तु वास्तव में इस ब्रह्म का न तो शब्द होता है, न स्पर्श, न रूप, न रत, न गन्ध। अतः वह नित्य है, जिस धर्म (गुण) में जो निरूपित किया जाता है; वही उसका स्वरूप है। ब्रह्म के विषय को लेकर भिन्न-भिन्न शास्त्रों ने जो निरुपित किया है उस शास्त्र के लिये वही उसका रूप है। यह भी बताया जाता है कि उपाधि से अभिव्यक्त होने वाला यह चैतन्य ही ब्रह्म है जो अपने आप नि-संग है पर देह आदि उपाधियों से सम्बन्धित हो स-संग हो जाता है। जैसे झील का जल चंचल हो जाने से सूर्य का प्रतिबिम्ब भी चंचल होता सा भासित होता है, परन्तु बहुत ही दूर कहीं आकाश में स्थित सूर्य, जल में प्रतिबिम्बत सूर्य में किसी प्रकार का सम्बन्ध आरोपित नहीं किया जा सकता है, वैसे ही देह की वृद्धि, संकुचन, छेदन, नाक्ष आदि संप्राप्त होने से वे गुण-दोष आत्मा के साथ सम्बन्धित से भाषित होते है। परन्तु आत्मा निर्विकार है; किसी धर्म से प्रभावित नहीं होता। बुद्धि के द्वारा उसे जानने का यत्न करने वालों के लिये वह सुलभ नहीं है, क्योंकि वह बुद्धि के परे का स्वरूप है। अनुभव से ही वह साध्य है।

ब्रह्मज्ञान के लिए जिज्ञासा की निवृत्ति ही परिणाम है; साक्षात्कार ही उसका फल है। यह सर्वोत्कृष्ट अवस्था समाधि में ही सुलभ होती है। साक्षात्कार के अनिवार्य पूर्वांग हैं श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन जो बुद्धि के विषय हैं। इस जन्म में ही जो आत्मस्वरूप का

साक्षात्कार कर लेता है, तो उसके फलस्वरूप उसे सत्यस्वरूप प्राप्त हो जाता है। याने आत्मदर्शन के साथ ही साथ अनन्त सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। जो नहीं कर पाता उसका जीवन ही व्यर्थ हो जाता है; उसका महान विनाश हो जाता है। ज्ञानी प्रत्येक भूतों में रहने वाले अ-द्वितीय आत्मा के तत्व को ग्रहण कर लेने पर मृत्यु के पश्चात इस लोक से चले जाने पर जनन-मरण रहित हो जाता है।

ब्रह्मज्ञान मनुष्य की विरासत है। मनुष्य ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। वह इसके योग्य भी है। पूर्वोक्त लक्षण से आलक्षित होने वाले परमात्मा के स्वरूप को पहले जैसे बताया गया है, वैसे यदि कोई साधक जान ले, तो उसका जन्म सफल हो जाता है; अन्यथा उसका जन्म व्यर्थ है। परब्रह्म विद्युत् प्रकाश के प्रवाह सम देदीप्तमान है। पल में प्रकट हो तिरोधान होने वाला क्षणिक प्रकाश उसका नहीं है। यह ब्रह्म का दैविक स्वरूप है; ब्रह्म का स्वरूप दु-र्विज्ञेय है। मन उस ब्रह्म को उपाधियों से युक्त बना कर ऐसा देखता है कि मानों वह उसके अत्यन्त समीप है, जिससे मन को ऐसा भ्रम होता है वह ब्रह्म का साक्षात्कार कर रहा है। वास्तव में वह उसे प्राप्त नहीं करता। अत्यन्त सामिप्य के कारण प्रति क्षण साधक यह स्मरण करता रहता है कि मैं ब्रह्म हूँ। इससे उसमें ब्रह्म के साक्षात्कार की अभिलाषा तीव्र होती जाती है।

इन स्मरण, संकल्प आदि के लक्षण के द्वारा यह भावना हो जाती है कि ब्रह्म उपास्य है। ब्रह्मज्ञानी के धर्माधर्म, पुण्य, पाप आदि नष्ट हो जाते हैं, धर्माचरण से उत्तमलोक तथा अधर्माचरण से अधोलोक प्राप्त होता है। ये दोनों ही बन्धन के कारण हैं। समस्त हृदय-ग्रन्थियों को शिथिल कर याने समस्त लौकिक भावनाओं को त्याग कर तथा अविद्या का अन्त कर साधक को ब्रह्म के अत्यन्त सामीप्य को प्राप्त कर लेना चाहिए। उपनिषद् ब्रह्म के सामीप्य को

प्राप्त करने में बड़े सहायक होते है। इसी कारण ब्रह्मोपदेश के बोध करने वाले शास्त्रग्रन्थों का नाम उपनिषद् पड़ा है। ब्रह्मज्ञान के लिए तप, दमन, अग्निहोत्र, मूर्ति, पूजन आदि कर्म प्रतिष्ठाभूत है, लाभप्रद हैं। वेद इसके अंग हैं तथा सत्य ही उनका निवास है; प्राण है।

ब्रह्मज्ञान के समस्त ज्ञानोपदेश इस उपनिषद् में दिये गये हैं। इस उपनिषद् में जो कुछ भी उपदेश दिये गये हैं, वे सब के सब सत्य तथा ज्ञान से लक्षित होने वाले ब्रह्म के सम्बन्ध में ही हैं। ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त है।

छान्दोग्योपनिषद्

नवाँ सम्बोधन

यह उपनिषद् सामवेद के अन्तर्गत है। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रथम पाँच अध्यायों में विविध उपासनाओं का तथा अन्तिम तीन अध्यायों में ज्ञानोपदेशों का कथन हुआ है। उपासना के लिए चित्तशुद्धि तथा ब्रह्मज्ञान के लिए चित्तैकाग्रता आवश्यक पूर्वांग निश्चित किये गये हैं। कर्म से चित्तशुद्धि तथा उपासना से चित्तैकाग्रता उपलब्ध होती है। इस प्रकार कर्म तथा उपासना ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के कारण होते हैं। इसी कारण शास्त्रों में सर्व प्रथम कर्म, तत्पश्चात उपासना तथा अन्त में ज्ञान की बातें दी जाती हैं।

छान्दोग्य के प्रथम अध्याय में सामवेद के अंगभूत उपासना के सम्बन्ध में लिखा गया है। द्वितीय अध्याय में सामवेद की समस्त उपासनाओं का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में मधुविद्या के नाम से प्रसिद्ध सूर्योपासना, गायत्री उपासना तथा शाण्डिल्य विद्या का वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में सम्वर्गविद्या तथा षोड्शकला वाली ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया गया है। पंचम अध्याय में प्राण-विद्या, पंचाग्नि-विद्या तथा वैश्वानर-विद्या का कथन हुआ है।

जिस सदवस्तु के ज्ञान से समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, उस एक सत् ज्ञान का ही उपदेश उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को दिया। मिट्टी या स्वर्ण का ज्ञान हो जाने पर उनसे बने घट पदार्थ दीया, परई, कुण्डल, हार आदि का ज्ञान भी हो जाता है। मिट्टी तथा स्वर्ण यथार्थ हैं; उनसे बनी समस्त वस्तुएं विकृत हैं, नश्वर तथा

नाम रूपात्मक हैं। घट, कुण्डल आदि की तरह ही जगत भी कार्य का कारण बनता है। वह कारण सत् कहलाता है। सत् का तात्पर्य 'है' होता है। संसार में दृष्टिगत होने वाले समस्त पदार्थ रहने वाले है यानी स्थाई हैं। अतः 'हैं', यह 'है' उन सब पदार्थों के लिए समान है। जैसे घट है, वैसे ही कुण्डल आदि भी हैं। 'है' यह शब्द घट, कुण्डल आदि वस्तुओं से जुड़ जाकर उनके द्वारा अभिव्यक्त होता है। इन वस्तुओं में जो जोड़ा गया है वह उसका धर्म है अर्थात् 'है' वस्तु का धर्म है, जो स्थूल बुद्धिवालों के लिए अभिव्यक्त हुए बिना ही रह जाता है। गुलाब के पुष्प में अभिव्यक्त होने वाला गुलाबी रंग उस गुलाब के पुष्प के अभाव में भी ज्यों का त्यों रहता है, वह गुलाब के पुष्प का आधार लेकर व्यक्त होता है। यदि गुलाब का पुष्प न रहे, तो गुलाबी रंग भी व्यक्त नहीं होता। इस प्रकार समस्त वस्तुओं के लिए समान रूप से वर्तमान 'है' यह धर्म यदि वस्तुओं का आधार न ले, तो भी सदैव रहता ही है। सृष्टि के पूर्व केवल यह सत् पदार्थ ही था। कुछ लोगों का अभिप्राय है कि वह सत् उस समय याने सृष्टि के पूर्व शून्य के रूप में था, पर यह सत्य नहीं है। सदवस्तु सजातीय भेदरहित एक वस्तु है। यह सत्पदार्थ शुद्ध सत्य प्रधान माया से प्रतिफलित हो ईश्वर स्वरूप बनता है तथा सृष्टिक्रिया को अंगीकृत कर स्वयं जगत के रूप में अभिव्यक्त होने का संकल्प कर तेज, जल तथा वायु के रूप में प्रकट हुआ। समस्त संसार इन्हीं तीनों से बना है।

उद्दालक का वंश, परंपरा से ही वेदाध्ययन में डूबा हुआ था, अतः वह सत् कुल के रूप में प्रसिद्ध हुआ था। उस वंश में जो भी पैदा हुए वे कुलीन होते थे। इसी सद्वंश में जन्म ले श्वेतकेतु अपने उपनयन के उपरान्त गुरुकुल में वेदाध्ययन न कर व्यर्थ समय गँवा रहा था, इसके कारण उसका पिता चिन्ताग्रस्त हो गया था। ब्राह्मण वंश में

पैदा होकर जो वेदाध्ययन नहीं करता, वह स्वयं ब्राह्मण कैसे कहला सकता है। वेदाध्ययन रहित ब्राह्मण केवल ब्राह्मण बन्धु कहला सकता है, किन्तु शुद्ध ब्राह्मण नहीं बन सकता। पिता के समझाने बुझाने से अन्त में श्वेतकेतु गुरुकुलवास में रह कर विद्याध्ययन करने को राजी हुआ, अतः सुयोग्य गुरु की खोज कर उनकी सादर सेवा करने लगा। इस प्रकार श्वेतकेतु बारह वर्ष गुरुकुल में रहा। उसने अपने चौबीस वर्ष की आयु तक चारों वेदों का सार्थ अध्ययन कर उनमें पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। वह विद्या के गर्व तथा अहंभाव में यह घोषित करता हुआ घर लौटा कि अब मेरी समानता करने वाला कोई भी नहीं है। अतः सम्प्रदाय की शिष्टता के अनुसार बड़ों के प्रति न तो विनय का प्रदर्शन करता, न शील-शिष्टता का ही ध्यान रखता था।

इस गर्विष्ठ (अभिमानी) श्वेतकेतु को देख उद्दालक ने पूछा, "वत्स! तू यह समझता है कि तेरी समानता करने वाला अन्य कोई नहीं है। क्या तूने कभी अपने गुरु से यह प्रार्थना की कि केवल शास्त्राचार्य द्वारा ही उपलब्ध होने वाले उस परब्रह्म से सम्बन्धित ज्ञान का उपदेश दे। वह ज्ञान जिसके सुनने से जो कुछ भी सुनने योग्य है, वह सब कुछ सुना हुआ हो जाता है; जिसकी कल्पना से जो कुछ भी कल्पना करनी चाहिए वह सब कल्पनाएं कर ली सी हो जाती हैं।" अपने पुत्र के गर्व को नष्ट कर देने के उद्देश्य से उद्दालक ने पुनः यह पूछा, "समस्त शास्त्रों के पारायण का परिणाम जो आत्मतेज है, उसका सन्दर्शन करने वाला ही वास्तव में कृत्कृत्य है; क्या तूने यह जान लिया है?"

परमार्थ 'सत्' पदार्थ- श्वेतकेतु के जैसे जीवों में भी है। यह सत्-पदार्थ समस्त चेतन-पदार्थों में उपाधि भेद अथवा व्यक्ति भेद से अनेक जीवों के रूप में भासित होता है। सुषुप्ति की अवस्था में समस्त भेद, विनष्ट हो प्रत्येक जीव अपने अपने सहज स्वरूप में

सानन्द रहते हैं। जाग्रतावस्था में अनुभूत होने वाले समस्त ज्ञान जैसे— मैं राम हूँ, मैं गंगा हूँ, मैं पिता हूँ, मैं पुत्र हूँ आदि सब कुछ सुषुप्ति अवस्था में नष्ट हो जाते हैं। मधुमक्खियों से विविध पुष्पों में से संगृहित किया जाने वाला मधुरस (शहद) समस्त भेदों से शून्य हो एक रस हो जाता है। गंगा, कृष्णा, सिन्धु आदि विभिन्न नामों से परिचित होने वाली समस्त नदियां समुद्र में जाकर मिल जाती हैं, एक हो जाती हैं और अपने अपने नाम-रूपों से रहित हो समुद्र हो जाती है। जीव नित्य तथा मृत्यु रहित है। कर्मफल के कारण जीव अनेक जन्म लेता है तथा प्रत्येक जन्म में अपनी पूर्व वासनाओं के अनुसार प्रेरित हो कार्य करता है। मृत्यु शरीर की ही होती है, न कि जीव की। वट वृक्ष का बीज भले ही कुचला जाए, तो भी अंकुरित होता है। जल में घुल जाने पर नमक की पहचान हाथ से नहीं की जा सकती याने जल में हाथ डाल कर टटोलने पर भी नमक हाथ नहीं लगता; केवल स्वाद से ही उसको पहचाना जा सकता है। अज्ञान के कारण जीव अपने स्वरूप को पहचानने में असमर्थ है। जैसे कोई भी चोरों से भगाये ले जाकर किसी वन के बीच अकेला छोड़ दिया जावे, परन्तु वह अपने घर के मार्ग की खोज कर अन्त में घर आ पहुँचता है; वैसे ही जीव जो अपने निज स्थन याने स्वरूप से अनभिज्ञ है, विचार के द्वारा उस स्थान याने स्वरूप को एक बार प्राप्त कर लेता है, तो वह जीव समस्त सांसारिक बन्धनों से निर्मुक्त हो जाता है। नाम, रूप, काल व स्थान का बन्धन नहीं रह जाता है। यदि जीव इस प्रकार अपने स्थान याने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता, तो अपने पूर्व जन्म की वासना के कारण पुनः पुनः जन्म मरण के चक्कर वाले सांसारिक बन्धन में फँस कर दुःख ही दुःख भोगता है, जैसे कोई सौषुप्तिक (सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त) सुख से अनायास जगकर हड़बड़ा उठता है।

यह निरूपित किया जाता है कि एकमेवाद्वितीय ब्रह्म तथा दृष्टिगत होने वाला सारा जगत तत्स्वरूप है याने ब्रह्म का ही स्वरूप है। जिसे सगुणोपासना से समझा जा सकता है, उसी की उपासना सत्यकाम आदि ने सगुण रूप में की है। वही ब्रह्मोपासना का साधना के द्वारा जानने योग्य मार्ग सुषुप्ता मार्ग है। सर्वव्यापक ब्रह्म हृदयाकाश में सुलभतः मिल जाता है। जैसे कोई राजा अपनी राजधानी में रहता है, वैसे ही ब्रह्म हृदयाकाश में रहता है, अतः हृदय को ब्रह्मवैश्य कहा जाता है। ब्रह्म हृदय गुहा से परिछिन्न नहीं होता, बन्धित नहीं होता। जो योगी सांसारिक विषयों से विमुख है वह अपने निर्मल हृदयाकाश में ही विज्ञान-ज्योति-स्वरूपी परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। सारा संसार ब्रह्म से उत्पन्न है। जैसे रथ की नाभी में चक्र पहिए के आगे जुड़े होते हैं वैसे ही समस्त संसार उस ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित होता है। शरीर के जन्म-मरण आदि विकारों से परमात्मा अप्रभावित है। ब्रह्म के काम तथा संकल्प अमोघ होने के कारण उसे सत्यकाम या सत्य संकल्प कहा जाता है। यह नहीं. वह नहीं इस प्रकार सब का परित्याग कर देने पर अन्त में जो शेष रहता है, वही ब्रह्म है। यही मुमुक्षुओं का अपना परमार्थ है। ब्रह्म को इस प्रकार जो साधक नहीं समझते, वे सार्वभौम के पद को प्राप्त कर कामचारी बनते हैं, पर समस्त कामों से रहित विशुद्ध तथा सत्य से सम्पन्न ज्ञानी को हृदयाकाश में केवल सत्य का ही साक्षात्कार होता रहता है।

आत्मा ही समस्त लोकों को जोड़ने वाला पुल है। वह शरीरी किसी पाप से सम्पर्क नहीं रखता। इस आत्मा को जो साधक जान लेता है वह अन्त तक सानन्द रहता है। ब्रह्मचर्य आत्मा की उपलब्धि के लिए मुख्य साधन माना जाता है। यज्ञ, व्रत, उपवास, अनुष्ठान इत्यादि के फल भी ब्रह्मचर्य के जैसे ही होते हैं। शरीर की असंख्य नाड़ियों में सूर्य का तेजस प्रवेश करता है। प्राणोत्क्रमण याने मृत्यु के समय समस्त

इन्द्रियां मन में मिलती हैं। मानसिक उपाधिमुक्त जीव नाड़ी के द्वारा हृदयाकाश में जा पहुँचता है। ज्ञानी का जीव अवसान याने मृत्यु के समय सुषुम्ना के द्वारा सूर्यकिरण से मिलकर उसके द्वारा सूर्यलोक जा पहुँचता है, वहां से ब्रह्मलोक चला जाता है। अज्ञानी के प्राण चक्षु आदि मार्ग से अपने अपने कर्म के अनुकूल अन्य अनित्य लोक में जाते हैं। इसी प्रकार सुषुप्ति की अवस्था में भी सभी इन्द्रियां विसमित हो जाती हैं। अतः अज्ञान बड़ा सुख का अनुभव होने वाला है।

समस्त संकल्पों का उद्‌गम स्थान चित्त ही है। समस्त संकल्प चित्त स्वरूप है, चित्त से उत्पन्न होने वाले तथा चित्त में प्रतिष्ठित होने वाले हैं। लोक में कहा जाता है कि चित्त के संकल्पों को ही प्रधान मानने वाला साधक भले ही अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया हो, चेतनत्व के अवसान याने मृत्यु के समय में वह शास्त्र-ज्ञान रहित अज्ञानी के समान ही हो जाता है; परन्तु जिस साधक का चित्त ब्रह्मज्ञान में ही मग्न हो जाता है, वह मृत्यु के उपरान्त उत्तम गति को प्राप्त होता है तथा चित्त संकल्प के बन्धन से मुक्त हो जाता है। मन संकल्प से मुक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि संकल्प ही उसका स्वरूप है। संकल्प मन की वृत्ति है। चित्त संकल्प का कारण है तथा संकल्प इच्छा का कारण है। कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य के विषय-विभाग का समर्थन करना ही संकल्प कहा जाता है, इसके पश्चात उसे ही शब्दों के माध्यम से प्रकट किया जाता है; जो इच्छित संज्ञा के द्वारा व्यक्त किया जाता है। शब्द विशेष तौर पर मन्त्रों की संख्याएं (नाम) मन्त्रों में अन्तर्भाव के रूप में रहता है। मन्त्रों में कर्म निहित है। चित्त के बिना कोई भी विशेष कर्म नहीं हो पाता।

ध्यान चित्त से उत्तम है। प्रथम ध्यान का विषय देवता अथवा शास्त्र-विहित सालिग्राम आदि छोटी वस्तुएं हैं। अन्य चित्तवृत्तियों का निरोध कर केवल बुद्धिवृत्ति को उस ध्यान के वस्तु परमात्मा पर

स्थिर कर देना ही ध्यान है, उसे ही चित्तैकाग्रता कहा जाता है। ध्यान निष्ट निश्चल होता है जैसे पृथ्वी। उसके जैसे ही अन्तरिक्ष, द्युलोक, जल, पर्वत, देव आदि भी होते हैं, मनुष्य को भी ऐसा ही होना चाहिए। शम, दम आदि गुण सम्पत्ति से देवों को समानता करने वाला मनुष्य जब तक ध्यान करता रहता है तब तक अचल रहता है।

विज्ञान ध्यान से उत्तम है। शास्त्रों के अर्जन व अध्ययन में प्राप्त ज्ञान विज्ञान कहलाता है। ध्यान से प्राप्त होने के कारण उसे ध्यान से उत्तम बताया गया है।

बल विज्ञान से श्रेष्ठ है। अन्न के भोगों से बनने वाले ज्ञेय-पदार्थों के विषयों को सम्यक समझने की प्रतिभा जिससे प्राप्त की जाती है वही बल है, ज्ञेय विषय में जो प्रसारित है उसे सुलभतयः ग्रहण करने या समझने का बौद्धिक सामर्थ्य ही प्रतिभा है, जो अन्न से ही पोषित है।

अन्न बल से अधिक श्रेष्ठ है। यदि कोई व्यक्ति दस दिनों तक अन्न नहीं खाता, तो वह शक्ति हीन हो जाता है, तब मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। मृत्यु पाये बिना यदि जीवित ही रहे, तो भी वह विषयों को ग्रहण नहीं कर पाता, न तो श्रवण कर सकता है, न मनन ही; अतः तेज हीन हो जाता है।

तेजस से जल तथा जल से अन्न उत्पन्न होता है, अतः तेजस इन दोनों से याने प्रतिभा तभा अन्न से अधिक श्रेष्ठ है। तेजस अग्नि प्रसारक है, जो वायु को हल्का बनाता है। आकाश में चमकता (कौंधता) तथा गरजता है। तेजस पहले वायुतत्व तदन्तर जलतत्व की सृष्टि करता है, तेजस ही घन गर्जन तथा जल वर्षा का हेतु बनता है।

आकाश तेजस से बड़ा है। शब्द आकाश के माध्यम से ही सुनाई पड़ता है। आकाश के निमित्त ही प्रिय वस्तुएं संयोग वश सान्योन्य क्रीड़ा करती हैं याने प्रेम तथा क्रीड़ा आकाश की ही उपज है। आकाश के ही कारण बीज का अंकुर फूट निकलता है।

स्मरण आकाश से भी विशाल है। पूर्व घटित घटनाओं को स्मरण में लाने का अन्तःकरण का धर्म ही स्मृति कहलाता है। स्मरण होते ही सब कुछ अनुभूत हो जाता है। उस स्मरण के अभाव में आकाश आदि वस्तुओं का स्मरण भी अशक्य हो जाता है। इसी कारण स्मरण आकाश का कारण होता है।

इस प्रकार अविद्या से उत्पन्न देह के अभिमान को छोड़, जीव के प्रति विश्लेषण (विचार) करना चाहिए, तदन्तर सम्प्रसाद की स्थिति में इस नश्वर शरीर के बदले देह आदि से विलक्षण अपने स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार जो उत्तम पुरुष अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता है, वह सभी प्रकार के संकल्पों का परित्याग कर देता है। शरीर का अभिमान उसे बिलकुल नहीं होता। वह अपने स्वरूप में लीन हो, न तो कभी हंसता, न किसी के साथ बोलता या खेलता, न अपने परिचित व्यक्ति के साथ रमण ही करता है, न अपने शरीर का ज्ञान ही रखता। सशरीरी को संसार तथा अशरीरी को अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है। यही उनका अपना अपना जीवन-क्षेत्र है। यह दृष्टान्त के द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। प्रसिद्ध वायु, मेघ तथा गर्जन इन तीनों के साधारण प्राणियों के जैसे सिर, पांव, हाथ, प्राण आदि आकृतियों से लक्षित होने वाल शरीर नहीं होता। वर्षाकाल में ये तीनों आकाश के तादात्म्य को पाकर उसी में ही विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार जीव कुछ समय के लिए व्यक्तिगत रूप में ब्रह्म के तादात्म्य में प्रकट होता तथा कुछ समय के उपरान्त उसी में विलीन हो जाता है।

ओंकारोपासना आदि साधनाओं के साथ हो आत्मज्ञान अष्टाध्यायि यह उपनिषद् परमेश्वर से हिरण्यगर्भ को, उससे कश्यप प्रजापति को, उससे मनु को, मनु में मनुष्यों को क्रमागत प्राप्त होने के कारण यह विद्या सम्प्रदाय के अनुसार गुरुमुख तथा गुरुजनों से प्राप्त होती है।

ऐतरेयोपनिषद्

दसवाँ सम्बोधन

यह उपनिषद् ऋग्वेद के अन्तर्गत है। आत्मतत्व प्रतिपादित छः काण्डों में यह परिपूर्ण हुआ है, अतः यह उपनिषद् आत्मषटक के नाम से भी प्रचलित है। अविद्या के विनाश के साथ ही साथ आत्मसाक्षात्कार कराने वाले आत्मज्ञान का बोध शिष्य के द्वारा समझाया गया है। आत्मा दो प्रकार की होती है— व्यवहारात्मा तथा विशिष्टात्मा। जब व्यवहारात्मा विशिष्टात्मा बनती है तब जीव कहलाती है। प्रत्येक मनुष्य में आत्मा ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों का स्पर्शण करती है। आत्मा शब्द 'अत्' धातु से उत्पन्न है। इस धातु के तीन अर्थ होते हैं— व्यापकत्व, भक्षण तथा गमन। सर्व व्यापकत्व, सर्वभोग तथा सतत गमन ये तीनों आत्मा के लक्षण हैं। ये ही ब्रह्म के लक्षण हैं।

जाग्रतावस्था में सर्व भोगों का अनुभव आत्मा करती है, अतः यहां 'आत्मा' शब्द का तात्पर्य "भोगपरूढ" होता है। स्पप्नावस्था में आत्मा समस्त इन्द्रियों को उनके अपने अपने कार्यों से अलग कर तथा परमावस्था में रह कर जाग्रतावस्था में जो कुछ भी अनुभव किया गया, उसकी वासनाओं को अपनी कान्ति के द्वारा जगत के रूप में सृजन करती है। सुषुप्ति की अवस्था में समस्त इन्द्रियां तथा मन परमावस्था को प्राप्त हो जाते हैं; अतः आत्मा सर्व व्यापक हो बाहरी विषयों से बिलकुल अनभिज्ञ हो जाती है, केवल एक प्रकार के अवर्णनीय सुख का अनुभव करती रहती है। इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न

तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा के ये तीनों शब्दार्थ व्यक्त होते हैं, इन उपाधि के विशेषण के कारण आत्मा परिच्छिन्न सा भासित होता है। किन्तु परमार्थ से वह निरुपाधि है। यह आत्मा देश, काल तथा वस्तु बन्धनों से रहित है, याने अनन्त है। अनन्त भी आत्मा का ही वाचक शब्द है। आत्मा सर्वज्ञ है, सर्व शक्ति-मय हैं, सर्व धर्म रहित है, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-भक्त स्वभावी है तथा अद्वितीय है। ज्ञात होता है कि आत्मा में अवयव भेद नहीं होता।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा यह माना जाता है कि यह सारा जगत अनुभव गोचर है। अतएव मूल मन्त्र में वह जगत 'इदम्' (यह) कह कर हस्त संकेत के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। यह भी बताया गया है कि जगत विविध नाम-रूपात्मक सृष्टि है। सृष्टि शब्द कार्य का बोध करता है। अब प्रश्न उठता है कि सृष्टि-कार्य के पूर्व यह जगत किस रूप में था?

"इदम् अग्रे आत्मा एव आसीत्"

याने हमारे सम्मुख दिखाई देने वाला जगत सृष्टि के पूर्व आत्मा के रूप में था। श्रुति भी इस सत्य को जानती है। अतः सृष्टि के पूर्व का जगत तथा सृष्टि के पश्चात का जगत ये दोनों एक ही हैं। सृष्टि के पूर्व केवल अ-विकृत आत्मा के रूप में ही था।

सृष्टि के पश्चात आत्मा ही अनेक नाम-रूपों में विकृत हो (आकृति में परिवर्तित हो) जगत के रूप में दिखाई देता है। इन्द्रिय गोचरत्व ही विकृति (व्याकृति) का लक्षण है तथा इन्द्रिय अगोचरत्व अव्याकृति लक्षण है। नाम शब्दात्मक है, जो वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होता है। 'यह राम है।' इस वाक्य का 'राम' शब्द जब वाक् के द्वारा उच्चरित होता है तब कान सुनता है। कान का विषय शब्द तथा उसका अर्थ बोध कराने वाला 'राम' चक्षु का विषय रूप भी होता है; साथ ही बुद्धि से गोचरित भी होता है। यह शब्द तथा अर्थ ये दोनों

ही सृष्टि से पूर्व नहीं थे। इसी प्रकार आत्मा के रूप में अ-विकृत (अव्याकृत) जगत वाक् तथा बुद्धि के लिए अगोचर है। सृष्टि के अनन्तर वही नाम-रूपात्मक होने के कारण वाक् तथा बुद्धि के लिए गोचर हो जाता है; अतः पहले ही अद्वितीय स्थिति की आत्मा तथा पश्चात की नाम-रूपात्मक अनेक आकारों में भासित होने वाली स्थिति का जगत एक ही वस्तु है।

जिस कारण से समुद्र का जल ही फेन, बुद्बुद, तरंग आदि अनेक नाम-रूपों से अभिव्यक्त होता है। ये पूर्वावस्था तथा उत्तरावस्था का भेद मात्र है। सृष्टि माया से कल्पित होने के कारण, वह आत्मा से भिन्न माया की वस्तु है, इसमें सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। माया आत्मा की शक्ति है। वह आत्मा से भिन्न नहीं है। कहीं शक्ति शक्तिमान से भिन्न हो सकती है? नहीं होती है न! आत्मा सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद रहित है, अतः यह 'एकःएव' इन दो शब्दों से ही समझा दिया गया है। केवल इतने में ही आत्मा का अद्वितीयत्व भान निस्सन्देह नहीं हो पाता। जैसे रस्सी में सर्प का रूप भासित होता तथा मरीचिका से जल का भ्रम होता, वैसे ही आत्मा ही माया शक्ति से जगत के आकार में भासित होती है। सृष्टि इन्द्रजाल के समान मिथ्यादृष्टि का कार्य है। इसका कारण भी है। वह कारण परब्रह्म है। जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति का कारण रस्सी है। आत्मा अद्वितीय है, अशरीरी है; इन्द्रिय आदि साधन रहित है। यह सब लोग जानते ही हैं। तब तो यह प्रश्न उठ सकता है कि जैसे श्रुतियों में बताया गया है कि परब्रह्म ने संकल्प कर लोक की सृष्टि की है, यह बात कहां तक ठीक है? अतः सारी सृष्टि इन्द्रजाल की विद्या के समान माया से ही कल्पित है।

माया आत्मा की ही शक्ति है न? शक्ति का विजृंभण ही ईषण आदि क्रिया के रूप में अभिव्यक्त क्रियाचरण है। जब हमें अपनी

भीतरी शक्ति सहायक होती है, तब वह क्रिया के रूप में विश्रृंभित्त होती है। उस समय हम कहते हैं कि हम यह काम करते हैं, यह क्रिया करते हैं। परन्तु हम यह नहीं कहते कि हमारे भीतर जो शक्ति है वही करती है। वैसे ही आत्मा की शक्ति-रूपी माया से किये जाने वाली ईषण आदि क्रियाएं आत्मा में आरोपित की जाती है। अर्थात् आत्मा कार्य करती है। इस प्रकार सृजित समस्त लोकों को अचेतन बनाकर उनके संरक्षण के निमित्त सृष्टिकर्त्ता ने उसे सृष्टि के पश्चात् साधन के रूप में देखा। लोकों की सृष्टि के अनन्तर उसने विचार किया कि लोक का चालन व सृजन लोक पालन के बिना कैसे चलेगा? मन्त्र के सृजन के अनन्तर यन्त्र को चलाने वाला यदि न रहे, तो यन्त्र कैसे संचालित होगा? वैसे ही सृष्टि के संरक्षण के लिए लोकपालक की आवश्यकता होती है? इसी विचार से सृष्टिकर्त्ता ने जल प्रधान पंचभूतों से विराट् पुरुष की सृष्टि कर उसे सिर, हाथ, पैर आदि अवयवों से युक्त किया। तदन्तर उस पुरुष के अवयवों से लोकपालों की उत्पत्ति की। उसके पश्चात् परमात्मा ने पुनः विचार किया तथा उस पिण्ड की आवश्यक इन्द्रियां तथा उन इन्द्रियों के अधिदेवताओं की सृष्टि की। उस पिण्ड का मुखछिद्र प्रकट हुआ, मुख से वागेन्द्रिय तथा उस वागैन्द्रिय से उसका अधिष्ठान देवता अग्निदेव प्रकट हुआ। नासिका तथा उसके दो छिद्र बने; नासिका के भाग से घ्राणेन्द्रिय तथा उसका अधिष्ठान देवता वायु उत्पन्न हुआ; दोनों आंखों के छिद्र प्रकट हुये, आंखों के छिद्रों में से नेत्रेन्द्रिय तथा उससे उसका अधिष्ठान देवता सूर्य प्रकट हुआ। इस प्रकार समस्त इन्द्रियां तथा उनके अपने अपने अधिष्ठान देवता भी प्रकट हुए। अधिष्ठह देवताओं का अपनी अपनी इन्द्रिय को अनुग्रहण करना ही पालन है। आंखें, कान आदि आकार मं दीर्घ क्यों न हो, यदि इन्द्रियां न रहें, तो देखना, सुनना आदि क्रियाएं होना असम्भव है।

अधिष्ठान देवता के अनुग्रह से ही इन्द्रियां कार्य कर पाती हैं। ये सब के सब एक के बाद एक सृष्टि किए गए।

परमेश्वर पहले के जैसे ही रहे। सबसे पहले जल से गाय तदन्तर अश्व का सृजन किया, परन्तु देवताओं को वे तृप्तिदायक न रहे; अतः उन देवताओं की प्रार्थना पर परमेश्वर ने उस विराट् पुरुष के शरीर के जैसे ही एक पुरुष शरीर का सृजन किया। उसने उस पुरुष शरीर को विवेक सम्पन्न बनाकर देवों को तृप्त किया। मनुष्य से भिन्न अन्य समस्त शरीर केवल कर्मफल के भोग के निमित्त हैं; केवल मनुष्य शरीर मोक्ष साधन के उपयुक्त विवेक से सम्पन्न तथा अन्य शरीरों से विलक्षण पुण्यकर्म करने में समर्थ होता है। इस नूतन आयातन (आश्रय) को पाकर देवता तृप्त हुए। परमेश्वर ने उन्हें आज्ञा दी कि वे अपने-अपने यथोचित इन्द्रियायातन में प्रवेश करें। तद्नुसार देवता भी अपने-अपने साधन में प्रविष्ट हुए। वे देव उस पुरुष शरीर के जिस इन्द्रिय को अपना-अपना आश्रय मान कर जिस क्रम से प्रविष्ट हुये, वह इस प्रकार है। अग्नि देवता वागेन्द्रिय बन कर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायुदेवता प्राण बन कर नासिका के छिद्रों में, सूर्यदेवता नेत्रेन्द्रिय बन कर आंखों के गोलकों में, दिशाओं के अभियानी देवता श्रोत्रेन्द्रिय बन कर कान में, औषधियों और वनस्पतियों का देवता रोएं बन कर त्वचा में, चन्द्रमा मन बन कर हृदय में, मृत्यु-देवता अपानवायु बन कर नाभि में तथा जल का देवता वीर्य बन कर लिंग में प्रविष्ट हो गया।

पश्चात् पंच सूक्ष्म-महाभूतों से धनीभूत एक मूर्ति तैयार की। यह मूर्ति ही अन्न है, उसने संकल्प किया कि सजल भूमि के माध्यम से मनुष्यों के निमित्त यह मूर्ति हितकर बने। पश्चात् परमेश्वर मनुष्य शरीर में प्रवेश करने के उपयुक्त मार्ग का विचार कर सिर के अग्र भाग में जा पहुँचा। इस भाग में उसने जीव के रूप में संघात के

निमित्त प्रवेश किया। उसने जिस द्वार से प्रवेश किया यह विदृति नाम से प्रसिद्ध है। इसे वान्धन भी कहा जाता है। इस प्रकार शरीर में प्रविष्ट परमेश्वर के तीन आश्रय हैं; ये तीनों आश्रय स्वप्न स्थान हैं। क्रिया-रूप, प्राण रूप जो शिरोद्वार हैं, वहीं पर सिर के अधोभाग में समस्त ज्ञानेन्द्रियां रहती हैं। परमेश्वर रूपी जीव के निमित्त ही यह शिरोद्वार विशेष तौर पर बना है; इसी कारण यह द्वार कहा जाता है। जब सिर पर यह तेल लगाया जाता है, तब यह द्वार नीरस सा लगेगा। यह द्वार सुषुम्ना नाड़ी का अन्तिम भाग है। योगी के लिए यही द्वार नेत्र तथा मुख है। इस द्वार से ही मृत्यु के समय प्राणेत्क्रमण कर योगी मुक्त हो जाते हैं। यही द्वार ब्रह्म से जा मिलने का मार्ग है; इसी कारण इसे 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जात है।

इस प्रकार शरीर रूपी नगर में प्रवेशित परमात्मा जीव के रूप में देहेन्द्रियों के समस्त संघातों का अधिपति हो, उनका शासक बना हुआ है। वेश धारण किये नट के जैसे ज्ञानसंघात के द्वारा बाह्य विषय जगत को स्पर्श करता हुआ अपने प्रारब्ध का अनुभव करता रहता है। इस प्रभु के सान्निध्य में बुद्धि रूपी नर्तकी इन्द्रियों के ताल पर उक्त विषय से दूसरे विषय का नर्तन करती रहती हैं।

इस प्रकार जीव रूप में परमात्मा सबकों प्रकाशित करता रहता है। इस जीवात्मा के क्रीड़ा-स्थल नेत्र, कण्ठ तथा हृदय हैं। जाग्रतावस्था मे नेत्रों मे, स्वप्नावस्था में कण्ठ में तथा सुषुप्तावस्था में हृदय में जीव क्रीड़ा करता है। जब ब्रह्म का अनुभव किया जाता है अथवा उसे समझने का प्रयत्न किया जाता है तथा नेत्र एक प्रकार के नूतन तेजस से चमक उठते हैं। नेत्रों में व्यक्त होने वाले इस ब्रह्मतेज के द्वारा एक नूतन विकास का अनुभव होने लगता है। इस जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर वह जहां भी देखता वहां आत्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं देखता। इसी कारण जीवात्मा यह जान लेता है

कि ब्रह्म ही इस पुरुषाकार में व्याप्त है। इस जीव तथा ब्रह्म के तत्वों का विचार कर मनुष्य कृतकृत्य हो सकते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

जागृत आदि अवस्थायें आत्मा से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखती वे केवल देह, इन्द्रिय आदि के कार्य कारण संघात से सम्बन्धित हैं। मनुष्य के अपने दो शरीर होते हैं— आत्मा शरीर तथा पुत्रात्मक शरीर। मृत्यु के समय अपने स्वाध्याय, अध्ययन, यज्ञ इत्यादि पुण्यकर्म करने के निमित्त अपने पुत्र को उत्तरदायी बनाकर पिता अपने पुण्यकर्मों के फलस्वरूप भावी शरीर को अपनी वासनाओं के रूप में ग्रहण कर अपने इस शरीर को छोड़ देता है तथा एक दूसरे शरीर में प्रवेश कर जन्म लेता है। यही पिता का तीसरा जन्म है। प्रथम तीन मन्त्रों में जो दो जन्म बताये गये हैं, वे पुत्र के हैं। अब जो तीसरा जन्म बताया गया है, वह पिता का है।

वामदेव ऋषि ने आत्मा के स्वरूप को इसी प्रकार जान लिया था। उन्होंने प्रारब्ध के फलस्वरूप प्राप्त देह को मन्त्रगर्भ निवास तथा मन्त्रानुभव से नष्ट कर समस्त सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो गये थे तथा परमात्म-भाव को प्राप्त कर उसका अनुभव सदैव करते रहे थे। वे दूसरे मरण रहित महात्मा थे।

तैत्तरीयोपनिषद्

ग्यारहवाँ सम्बोधन

इस उपनिषद् में ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया गया है। इस तैत्तरीयोपनिषद् के तीन भाग हैं— शिक्षावल्ली, ब्रह्मनन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली। इनमें से ब्रह्मज्ञानोपदेश चाहने वालों के लिए अन्तिम दो वल्लियां मुख्य हैं। ब्रह्मविद्या में देव तथा ऋषि भी विघ्न-बाधक होते हैं। इन विघ्न-बाधाओं से बचे रहने के निमित्त चित्त की एकाग्रता आवश्यक है; अतः इस एकाग्रता को प्राप्त करने के लिए कुछ आवश्यक उपदेश शिक्षावल्ली में दिये गये हैं। इस वल्ली में बारह अनुवाक हैं। ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली में दोनों वल्लियां अपने-अपने नाम से प्रसिद्ध हैं। इन दोनों वल्लियों में मोक्ष के साक्षात् साधनभूत वारुणिविद्या समझाई गई है। इन दोनों वल्लियों का विषय एक ही है। परन्तु पाठ की सुविधा को ध्यान में रखकर दो वल्लियों में विभाजित की गई हैं।

शिक्षावल्ली में कर्म के विरुद्ध संहिता आदि विषयों का तथा समुचित कर्म व उपासनाओं का वर्णन किया गया है। स्वराज्य उसी का फल है। केवल इससे ही संसाररूपी बीज का पूर्ण नाश नहीं हो पाता। उपासना कामना के विरुद्ध नहीं है। अतः प्रधान कर्मोपासना भी मोक्ष का हेतु नहीं है। अज्ञान ही संसार का कारण है। उसका नाश हो जाने पर ही मोक्ष सम्भव हो पाता है। अज्ञान सहज ही हो जाता है। हम जिस रेलगाड़ी में बैठे हैं, वह यदि रुक जाती है तथा उसके बगल वाली दूसरी रेलगाड़ी चले तो हमें ऐसा लगता है कि सचमुच

हमारी ही गाड़ी चल रही है। परन्तु वास्तव में हमारी गाड़ी नहीं चलती है। वह केवल मिथ्या ज्ञान है।

इस प्रकार के अज्ञान के कारणों का विचार करते रहने से कोई प्रयोजन नहीं है। केवल उसे दूर करने के मार्ग की खोज करनी चाहिए। संसार का बीज रूप यह अज्ञान केवल ब्रह्मज्ञान से ही नाश हो पाता है। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। शास्त्रों से तथा युक्ति से यह ज्ञान हो पाता है कि कर्म के फल नश्वर हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि कर्मों से प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि लोकों से भी श्रेष्ठ लोक यदि स्वयमेव मिले, तो भी मुमुक्ष उसकी आकांक्षा नहीं करते। कर्मकार्य-स्वर्ग भी उनके लिए अनित्य है। जैसे नरक कर्म के परिणाम स्वरूप प्राप्त होता है, वैसे ही स्वर्ग भी कर्मों के परिणाम स्वरूप ही मिलता है।

कर्म के पूर्व कुछ भी नहीं रहता। जो उत्पत्ति के पूर्व नहीं रहता, वह उत्पत्ति के पश्चात् जब वह नष्ट हो जाता तब भी नहीं रहता याने जिसका अस्तित्व सृष्टि के पूर्व नहीं रहता, सृष्टि के परे लय हो जाने पर भी उसका अस्तित्व नहीं रहता। जिस वस्तु का अस्तित्व न तो आदि में रहता है, न अन्त में ही, उसका अस्तित्व वर्तमान में भी नहीं रहता है याने जिसके भूत तथा भविष्य नहीं है उसका वर्तमान भी नहीं। कर्म से उत्पन्न फल अनित्य है। आकाशपुष्प प्राप्त करने का जितना भी प्रयत्न क्यों न करें, असम्भव ही हैं; क्योंकि आकाशपुष्प केवल कल्पित है, ऐसा कोई पुष्प नहीं है। जो नहीं है, उससे कुछ पैदा कराने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। मोक्ष मिलने वाला एक पदार्थ ही है, जो अज्ञानवश अज्ञात हो जाता है। जब अज्ञान दूर हो जाता है तब वह प्रत्यक्ष हो जाता है। मृत्यु के पूर्व जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है; वह ठीक वैसे ही है, जैसे परदेश की यात्रा के अवसर पर देखे जाने वाले अनेक दृश्य; जिनसे कोई प्रयोजन नहीं है। वैसे ही

उसके लिए मोक्ष की प्राप्ति भी। अज्ञान को दूर करने के लिए ब्रह्मज्ञान का बोध करने वाले वेदान्त का विश्वास पूर्वक श्रवण करना आवश्यक है। समस्त संसार रूपी बीज का कारणभूत अज्ञान को दूर करने में समर्थ ज्ञान का उपदेश करना ही ब्रह्मवल्ली का ध्येय है।

प्रत्येक मानव अविद्या जन्य काम से ग्रसित है। अतः मनुष्य अधिक से अधिक फल की इच्छा करता है, जो स्वाभाविक ही है। मनुष्य कर्माचरण अत्यन्त प्रयत्न पूर्वक करता है, जो शाश्वत मोक्ष देने में समर्थ है, परन्तु अनित्य फल की आकांक्षा से उस नित्य मोक्ष को प्राप्त करने से वंचित हो जाता है। अत्यधिक फल की तृष्णा सांसारिक बन्धन का कारण होती है, सांसारिक बन्धन में मनुष्य नाना प्रकार के कष्ट भोगता है। अतः संसार को देख मनुष्य भयभीत होता है। यहाँ इस उपनिषद् में सत्य-ज्ञान तथा अनन्त ये तीनों शब्द ब्रह्मशब्द के साथ अलग-अलग जोड़े गये हैं, जिससे वे ब्रह्म के विशेषण बन गए हैं। ये तीनों शब्द आपस में कोई सम्बन्ध नहीं रखते। ये केवल ब्रह्म के विशेषण मात्र हैं। सजातीय वस्तु में होने वाले विशिष्ट धर्म निकाल कर किसी वस्तु में आरोपित करना ही विशेषण का लक्षण है। इसी प्रकार 'सत्य ब्रह्म' इस जुड़वे शब्द में सत्य शब्द ब्रह्मशब्द के विशेषण के रूप में जोड़ा गया है। सत्य विशेषण रहित अन्य ब्रह्मों से पृथक व्यक्त करने के लिए मूल ब्रह्म 'सत्य' विशेषण से व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार ज्ञान तथा अनन्त इन विशेषणों से उनसे निरुद्धार्थ वाले जड़ स्वरूप, देश, काल तथा वस्तु परिछिन्न ब्रह्म प्रकृत ब्रह्म से पृथक किया हुआ सा लगता है। लक्षण या विशेषण वस्तु के स्वरूप का निरूपण कर उसके प्रत्येक व्यक्तित्व को व्यक्त करता है। लक्षण से लक्षित होने वाली हर एक वस्तु अन्य समस्त सजातीय तथा विजातीय वस्तुओं से पृथक की जाती है।

जो पदार्थ जिस रूप में निश्चित किया जाता है, यदि उस रूप का परिवर्तन न हो तो वह सत्य है। कोई भी यदि अपना निश्चित रूप बदले, तो वह असत्य है याने जिसका विकार न हो वह सत्य है। तथा जिसका विकार हो तो वह असत्य है।

ब्रह्म सत्य है, अतः वह निर्विकार तथा नित्य है। इसके विपरीत जिसका विकार होता है वह ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म सत्य है, अतः ब्रह्म से भिन्न यह जगत विकार स्वरूप है तथा असत्य है, इसी कारण जगत ब्रह्म नहीं है। समस्त ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञेतृ पदार्थ बुद्धि में संनिगूढ़ रहता है, अतः बुद्धि को गुफा कहा जाता है।

इस उपनिषद् में ब्राह्मणों के विविध धर्मों का वर्णन किया गया है। वे तीन प्रकार के हैं— काम्य, नैर्मित्य तथा निमित्त। शास्त्र यह नहीं कहते हैं कि कर्मों का आचरण करो। पर मनुष्य को कर्माचरण सहज ही प्राप्त होता है। काम प्रवृत्ति ही इसका मूल कारण है। कामना के अनुरूप ही मनुष्य प्रवर्तित हो कर्म करता है तथा उससे मिलने वाले फलों का अनुभव करता है। शास्त्र केवल सहज ही उत्पन्न होने वाली कामनाओं से दूर रहने का उपदेश देते हैं, अतः इस उपनिषद् में कहा गया है कि—

स्वाध्यायान्मा प्रमदः
सत्यान्न प्रमदितव्यम्।
धर्मान्न प्रमदितव्यम्।
मातृदेवो भव।
पितृदेवा भव।
यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि
नो इतराणि।

अर्थात अध्ययन तथा अध्यापन में कभी प्रमाद (चूक) न करो। सत्य से कभी न डिगना चाहिए। धर्म से नहीं डिगना चाहिए। माता

में ही देवता की भावना करो। पिता में ही देवता की भावना करो। जो जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हीं को करना चाहिए; इससे भिन्न कर्म न करना चाहिए।

श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ये तीनों आत्मसाक्षात्कार के उपाय हैं। प्रथम उपाय श्रवण याने सुनना है, जिसका तात्पर्य यह है कि वेदों में सम्पूर्ण विश्वास रख गुरु के सान्निध्य में रह कर सुनना तथा ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान प्राप्त करना। इस प्रकार की मननात्मक तपस्या का उपदेश भृगुवल्ली के अन्तर्गत दिया गया है। मनन से निश्चित निर्गुण ब्रह्मात्मक स्वरूप को मन में स्थिर कर लिया जाता है, पश्चात ब्रह्म से भिन्न अपने स्वरूप का अनवरत चिन्तन करना ही निदिध्यासन है। इस ब्रह्मविद्या का ही वर्णन ब्रह्मवल्ली तथा भृगुवल्ली में किया गया है। ब्रह्मवल्ली उपदेशात्मक है; भृगुवल्ली अनुभावात्मक है।

वरुण के पुत्र भृगु जी ने अपने पिता के पास आकर प्रार्थना की कि हे पूज्य पिता जी! अब आप मुझे ब्रह्मोपदेश करें। तब वरुण ने उपदेश दिया कि अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत, मन तथा वाक् ही ब्रह्म हैं। पुनः उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि जिससे ये भूत उत्पन्न हुए हैं; उत्पन्न होकर ये भूत जिससे जीवित रहते हैं, वही ब्रह्म हैं; यह जान लो। भृगु ने ये दोनों वाक्य अपने पिता से सुन कर तपस्या की और उसने समझा कि अन्न ही ब्रह्म है।

क्योंकि ये समस्त भूत अन्न से ही उत्पन्न हैं। उत्पन्न भूत अन्न से ही जीवित हैं। इस प्रकार यह जान कर भृगु जी पुनः अपने पिता के पास गये और उनसे पूछा कि पिता जी, मुझे ब्रह्मोपदेश दें। तब पिता ने अपने पुत्र को समझाया कि तप के द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा करो, तप ही ब्रहा है। भृगु ने तपस्या कर समझा कि विज्ञान ही ब्रह्म है। विज्ञान से ही भूत उत्पन्न होते हैं; विज्ञान से ही जीवित रहते

हैं। वह समस्त विद्याओं में उत्कृष्ट तथा पवित्र हैं। इस प्रकार यह परम रहस्यमयी ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के अनुसार समझायी गयी है।

अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिए, यह ब्रह्मविद् का वृत है, प्राण ही अन्न है। शरीर अन्न से बना है। प्राण शरीर में प्रतिठित है, अतः अन्न की वृद्धि करनी चाहिए। इसका तिरस्कार न होना चाहिए। जल जठराग्नि से जीर्ण हो अन्न बनता है। वक्षोदक में विद्युदग्नि प्रतिष्ठित होती है याने आकाश के वक्ष में स्थित जल में (मेघ में) विद्युत रूपी अग्नि प्रतिष्ठित है। ज्योति में जल प्रतिष्ठित है, अतः जल तथा ज्योतिरूपी अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है। जो साधक जल तथा ज्योती-रूपी अन्न, जो अन्न से ही प्रतिष्ठित है उसकी ही उपासना करता है तथा उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है याने इस रहस्य को जो साधक भलीभांति जान लेता है, वह इस विषय में प्रतिष्ठित हो जाता है। ब्रह्मविज्ञान के लिए अन्न द्वार होने के कारण वह गुरु के तुल्य है; अतः उसकी निन्दा न करनी चाहिए, उपासक का यह भी एक व्रत है। शरीर अन्न का ही विकार है, अतः उसे अन्नमय कोष कहा जाता है। इसी प्रकार प्राणमय शरीर को प्राणमयकोष, अच्छाई-बुराई का विचार रखने वाले मनोमय शरीर को मनोमयकोष, विचार किये गये विषय के पर्यावसान जिससे निश्चित होता है, वह विज्ञानमय कोष तथा निश्चित होने पर उसके फलस्वरूप आनन्द का अनुभव जिसे होता है, वह आनन्दमय कोष कहा जाता है।

ब्रह्मभाव की उपासना के लिए प्राणमयकोष को पुरुषाकृतित्व प्रदर्शित किया गया है। प्राणमयकोष शरीर पिण्ड से भिन्न तथा सूक्ष्मतर है, जो अन्नमयकोष में परिव्याप्त है। वह वायुमय है। उससे ही अन्नमयकोष के पांव, सिर, हाथ आदि संचालित होते हैं। अन्नमयकोष में यह आत्मा के रूप में है। यदि प्राणवायु न रहे, तो वह अन्नमयकोष याने शरीर खड़ा नहीं रह सकता। प्राण क्रिया शक्ति का

कार्यभूत है। यह प्राण पांच प्रकार के हैं— प्राण, अपान, ध्यान, उदान तथा समान जिसे पंचप्राण भी कहा जाता है। प्राण पंचप्राणों के रूप में परिवर्तित होने से प्राणमय कोष बनता है। यह प्राणमय कोष अन्नमयकोष की आत्मा के रूप में है; अतः इस भावना में अन्नमयकोष की आत्मबुद्धि याने स्वार्थबुद्धि नष्ट हो जाती है। मूसल में तपाकर जड़े गये लोहे के जैसे अन्नमयकोष का आश्रय पाकर आत्मभाव व्यक्त होने वाला प्राणमयकोष भी पुरुषाकृति में दीख पड़ता है।

स्वाद रूप वाली प्राणवृत्ति प्राणमयकोश का सिर है, व्यानवृत्ति दक्षिण पक्ष है, अपानवृत्ति वाम पक्ष है, शरीर के मध्य भाग में स्थित समानवृत्ति आत्मा है, पृथ्वी पूंछ तथा आधार है। पृथ्वी की प्रतिष्ठा के हेतु ही उदानवृत्ति के द्वारा ही उर्ध्वगति अधोगति में परिणत होती है। हृदयदेश में मुख-नासिका के द्वारा ऊर्ध्वगति से संचालित होने वाला प्राणवृत्ति सिर तथा उसमें फैले समस्त नाड़ियों में प्रसारित होने से व्यानवृत्ति कहलाता है, निम्न प्रसारण से अपानवृत्ति पक्षों में, उदर में तथा मध्य स्थित नाभी के आप पास संचारित होने से समानवृत्ति कहा जाता है।

मनोमयकोश के लिए यजुर्वेद सिर, ऋग्वेद दक्षिण पक्ष, सामवेद उत्तर पक्ष तथा ब्राह्मणात्मा अथर्ववेद प्रतिष्ठा स्वरूप पूंछ है। यजुर्वेद के मन्त्र अधिकतर यज्ञों में पढ़े जाते हैं। उससे स्वाहाकार पूर्वक हविस तथा होम किये जाते हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद मुख्यतयः सिर माना जाता है। यजुस् के इस नाम से व्यवहार में लाये जाने वाले शब्द स्रोत के द्वारा सुना जाता है। सामान्यतः प्रत्येक भाव को ग्रहण करने की मनोवृत्ति को यजुस् कहा जाता है। इसी प्रकार ऋग्वेद तथा सामवेद के विशिष्टि लक्षण ग्रहण किये जाते हैं। इस प्रकार समस्त मन्त्र मनोवृत्ति के रूप में ही हैं। समस्त मनोवृत्तियां आत्मचैतन्य को जगाती है। अतः यजुर्वेद आदि के शब्दों के वाच्य शब्दरासि

आत्म-विज्ञान ही होता है। इसीलिए वेदों को नित्यत्व प्राप्त हुआ है याने वेद अमर हैं। शान्तिक, (शान्ति प्राप्त करने के लिये) येष्टिक (इष्ट प्राप्त करने के लिये) आदि प्रतिष्ठाओं का कारण स्वरूप कर्म प्रधान होने के कारण अथर्ववेद को पूंछ कहा जाता है। अब तक जो बताया गया है, उस विज्ञान के साथ ही मनोविषय शरीर में उत्पन्न मनोमयात्म होता है।

ब्रह्मानुभव उपनिषद्

बारहवाँ सम्बोधन

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"

ऐसा श्रुतियाँ घोषित करती हैं, अर्थात ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नही; अर्थात वह ब्रह्म सभी काल तथा सभी अवस्थाओं में रहने वाला है। द्यन्दोग्योपनिषद् के अनुसार पहले केवल एक सत् ही था। इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद् में इसे शान्तम्, शिवम् तथा अद्वैतम् बताया गया है। इस लोक में जो विवर्त्त ऊपर ऊपर दिखाई देते हैं, वे ही द्विविध रूप में प्रकट होते हैं। हमें दिखायी देने वाले ये समस्त भिन्न भिन्न रूप, हमारी अपनी कल्पना या वासना के फलस्वरूप हैं। दीपक जला कर देखते ही, जैसे सर्प का भ्रम पैदा करने वाली रस्सी का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है, वैसे ही द्वन्द्व रहित परब्रह्मज्ञान के द्वारा देखने वाले ज्ञानी के लिए प्रपंच (संसार) का भ्रम नष्ट हो जाता है। द्विविधा में देखना भी भय है, याने द्विविधा ही भय का कारण है। देखने वाला, सुनने वाला, करने तथा आनन्दित होने वाला जब स्वयं एक ही होता है, तब भय कैसे हो सकता है? हम अपनी निद्रा की अवस्था की दशा पर ध्यान दें, जब हम निद्रा के वश में हो जाते हैं, तब सारा प्रपंच लुप्प हो जाता है। है न? द्वन्द्व का नाश हो जाए, तो हमें सर्वत्र एकत्व का ही अनुभव होने लगता है। उस समय हम एक स्वरूपी परमेश्वर में विश्राम करते हैं। इसका प्रत्यक्ष अनुभव परम भक्त तथा ज्ञानी को हो पाता है। सर्वत्र व्याप्त प्राणवायु के जैसे ही चिदाकार भी व्याप्त है। सत्, चित्, आनन्द,

परिपूर्ण तथा नित्य इन पंचगुणों के आधार पर ही परमेश्वर का गुणगान या वर्णन होता है। इन गुणों के आधार पर ही वह प्रकट होता है। सत् तीनों कालों में रहने वाला है। अपने आप को जान कर स्वयं प्रकाशित हो अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करने वाला ही चित्त् है। प्रत्येक का जो परम प्रीतिकर है वही आनन्द है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अव्यन्ताभाव से जो मुक्त है, वही नित्य है; इच्छा रहित जो है, वही परिपूर्ण है।

आग को छूने से शीतलता का अनुभव नहीं होता, याने आग में शीतलता बिलकुल नहीं होती, यही अत्यन्ताभाव है अर्थात् शीतलता अग्नि से बिल्कुल दूर रहती है। अग्नि में इस शीतलता का अत्यन्त अभाव होता है। अतः वास्तव में शाश्वत क्या है? देश, काल तथा वस्तु इन तीनों परिच्छिन्नों (सीमाओं) से जो अप्रभावित है, वही परिपूर्ण है। यह लोक मिथ्या है, केवल आंखों को दिखाई पड़ता है। यह जीव ही सत्, चित्त् आनन्द तथा ब्रह्म है, याने सच्चिदानन्द धन है। अतः इन चारों में ही लीन हो जाओ, भावपूर्वक ओंकार का ध्यान करो और यह निश्चय कर लो कि तुम ही आत्मा हो। अज्ञान का विनाश हो जाने पर प्रत्येक आत्मा अपने स्वरूप में देदीप्त हो जाती है। पहले जो मृगमरीचिका का आभास होता, वह मिथ्यात्व अब नष्ट हो जाता है। समस्त वस्तुओं का आदि तथा अन्त है।

मन जब तक किसी विषय के विचार में मग्न होता या दूषित होता है अथवा विषयों की इच्छा करता है, तब तक वह बन्धन में पड़ा रहता है। इस सांसारिक बन्धन से मुक्त होने के निमित मन को ऐसा अभ्यस्त कर देना चाहिए, कि वह सदैव निश्चिन्त रहे, न तो किसी विषय में रमे, न दुखित हो, न किसी की चाह करे। बन्धन-मुक्ति के लिए भी मन ही कारण है। राजस गुण के अधीन होने से मन बन्धन में फंस जाता है; सत्वगुण प्रधान मन मुक्ति का कारण होता

है। स्थूल शरीर के साथ एक हो जाने वाला साधक वहीं का हो जाता है याने शरीर पर आसक्त तथा अभिमानी शरीर जन्म सुख दुःखों को भोगता ही रहता है। वह इन्द्रिय जन्य आनन्दों का अनुभव करने की अंधी आकांक्षा करता रहता है। जो साधक शरीर पर अभिमान नहीं रखता उसके मन में आकांक्षाएँ नहीं होतीं तथा सन्तोष, क्लेश इत्यादि सद्गुण या दुर्गुण नहीं होते। राग द्वेष अन्तः करण के धर्म हैं जिनका सम्बन्ध जीवात्मा से नहीं होता है। आत्मा सदैव पवित्र है। वह किसी से भी प्रभावित नहीं होती, मुण्डकोपनिषद् के तीसरे अध्याय के प्रथम मन्त्र में बताया गया है कि

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समान वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्यलं स्वाद्वत्त्य–
नश्मन्नन्यो अभिचाकशीति।।

अर्थात एक साथ रहने वाले तथा परस्पर सखा भाव रखने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय ले कर रहते हैं। इन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के फलों का स्वाद ले ले कर कष्ट उपभोग करता है, किन्तु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।

यहाँ शरीर वृक्ष है, पक्षी जीवात्मा तथा परमात्मा है, जो साथ साथ रहते हैं। पहला पक्षी जो फलों का स्वाद ले रहा है, वह जीवात्मा सुख दुःख आदि कर्म-फलों का अनुभव कर रहा है। दूसरा पक्षी परमात्मा है जो सूक्ष्मता पूर्वक उसका साक्षी के रूप में रहता है। पवित्रमय, स्वयं प्रकाशमय तथा साक्षीभूत स्वरूप प्रत्येगात्मा यह शरीर, जो मांस, रक्त, आदि अपवित्र पदार्थों से बना है, कैसे हो सकता है। यह शरीर 'केवल आहार' से निर्मित है। यह सदैव बदलता रहता है। जन्म के पूर्व तथा मृत्यु के पश्चात यह वर्तमान शरीर नहीं रहता। यह शरीर क्षणभंगुर है। परमात्मा रूपी प्राण जब

तक इस शरीर में रहता है, तब तक ही मनुष्य जीवित रहता है। यदि वह प्राण अल्प मात्रा में भी शरीर में रहे, तो जीवित माना जाता है, परन्तु प्राण के चले जाते ही शरीर कटे वृक्ष के जैसा धरा पर गिर जाता है, अतः शरीर को ही प्रधान मान कर यह न निश्चित कर लेना चाहिए कि इस शरीर का पोषण-रक्षण ही सब कुछ है। मनोवृत्तियों का जो साक्षी है तथा अमित आनन्द देने वाला है उस आत्मा में ही लीन होना चाहिए।

जिस स्थिति में संकल्प-विकल्प आदि नहीं होते, वही योगावस्था है; वही योग है। मन के साक्षित्व में स्वाधीन जीवात्मा तथा परमात्मा का समभाव ही योग है। योग-साधन में जीवात्मा परमात्मा में मिल जाता है। योग से सब प्रकार की बाधाओं का तथा कष्टों का निवारण हो जाता है। जो साधक निश्चलतापूर्वक तथा दृढ़ाभिमानपूर्वक योग का अभ्यास करता है तथा तीव्र वैराग्य की वृद्धि करता है तथा विमुक्ति की इच्छा से सकल कष्टों को झेल लेता है, उसे योग में विजय अवश्य मिलती है।

सच्चिदानन्द स्वरूप याने सत्य, विज्ञान तथा आनन्द के गुण जिसमें है; प्रशान्त तथा परिशुभ्र गुण जिसमें है, वह विज्ञान है। विज्ञान माने प्रत्यक्ष अनुभव किये जाने वाला ज्ञान। हमारी वर्तमान भाषाओं में विज्ञान का तात्पर्य भौतिक आदि विज्ञान से है। स्वरूप में कामनाएं नहीं होती। स्वयं प्रकाश तथा परिशुभ्र परमात्मा में कामनाएं कैसे हो सकती हैं। मन कामनाओं की गठरी है। कामनाएँ ही मन को अपवित्र करती है। वासनाओं को निर्मल करना ही मन को निर्मल करना है। कुछ दिनों तक एकान्त में रहे, तो मनोनाश हो जाता है। इसलिए योगी गुफा में रह कर तपस्या करते हैं।

कामनाएँ दो प्रकार की होती हैं— शुभ तथा अशुभ; अर्थात पवित्र तथा अपवित्र। पवित्र वासनाओं से मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र ही हो

पाती है। जप, ध्यान, सत्कर्म, दान, धर्म, निस्वार्थ सेवा, क्षमा, दया इत्यादि पवित्र कामनार्थ है। क्रोध, हिंसा, काम, दुराशा, स्वार्थ आदि अपवित्र कामनाएं हैं। जैसे हाथ के कांटे से पैर का कांटा निकाला जाता है तथा निकाल देने पर उन दोनों कांटों को फेंक दिया जाता है, वैसे ही अपवित्र वासनाओं को पवित्र वासनाओं द्वारा निकाल कर पश्चात उस अपवित्र वासनाओं के साथ ही साथ इन पवित्र वासनाओं को भी निर्मूल कर देना चाहिए। क्योंकि मोक्ष को साधने में पवित्र वासनाएँ भी बाधक बनती हैं। ये पवित्र वासनाएँ भी अनेक जन्मों का कारण बनती हैं। अतः जीवनमुक्त को अपनी पवित्र वासनाओं का भी निर्मूलन कर देना चाहिए। जीवनमुक्त में इन्द्रियानन्द की तृष्णा तथा मोह आत्म साक्षात्कार से जली रस्सी के जैसे प्रभावहीन हो लुप्त हो जाती है। जली हुई रस्सी से कोई चीज बांधी नहीं जा सकती, ऐसे ज्ञानी के लिए कोई भी वस्तु प्रिय नहीं होती है। वह सूर्यास्त के समय जहाँ स्थान मिला सो जाता है। वह जन समाज में इसलिए नहीं घूमता कि लोग उसे जाने, उसका आदर सत्कार करें।

जब दृष्टा तथा दृश्य का एक ही भाव हो जाता है, तब जो आनन्द होता है, वहीं तुरीयावस्था है। जो चतुर्थ अवस्था है। पश्चात आत्म-चिन्तन के द्वारा क्रमशः प्रापंचिक (सांसारिक) व्यवहारक्षीण होता जाता है। निरन्तर साधना, अन्तराध्यात्मक चिन्तन आदि करते रहना चाहिए। निर्बल साधक अपनी आत्मा को अथवा आत्मतत्व को समझ नहीं पाता। सच्चा साधक ही अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग कर प्रापंचिक (सांसारिक) विषयों से तथा इन्द्रियों के भोगों से मन को हटा कर शाश्वत ब्रह्म के साक्षात्कार के निमित्त तपस्या में लीन रहता है। तामसिक संकल्पों से कष्ट ही कष्ट भोगना पड़ता है, सात्विक संकल्पों से धर्म, मोक्ष तथा ज्ञान सुलभ होते है तथा राजसिक संकल्पों से प्रापंचिक (सांसारिक) झंझटों में फँस कर इस अलभ्य

जीवन को खोना पड़ता है। त्रिगुणात्मक संकल्प याने इन तीनों प्रकार के संकल्पों का जब परित्याग कर दिया जाता है, तब साधक ब्रह्मस्थान को पाने वाला बन जाता है; वह ब्रह्मज्ञानी ही हो जाता है।

ब्रह्म अगाध है जिसकी गहराई का नाप-तोल करना असम्भव है अतः इस अल्प मन के द्वारा उस अनन्त परमेश्वर का नाप-तोल कैसे हो सकता है? यह अप्रमेय (जो नापा न जा सके), अपरिच्छिन्न (अ-सीमित) तथा अव्यपदेश्य (जो कहा न जा सके) है। यह परमात्मा सामान्य भौतिक इन्द्रियों के द्वारा न तो देखा जा सकता है, न समझा ही जा सकता है। वह तो इन्द्रियों के लिए दुर्लभ है। वेदान्त में संकलित भोग त्याग लक्षण वाला ब्रह्म जिसे वेदान्तियों ने नेति-नेति याने यह नहीं, यह नहीं, कहा है, वह 'मैं' ही है। व्यतिरेक भाव के सिद्धान्त के आधार पर देखें तो भी वह ब्रह्म 'मैं' ही है। हृदय गुहा में रहने वाला ब्रह्म भी 'मैं' ही है। साधक अपने शम, दम, तप, सत्य, ब्रह्मचर्य इत्यादि के अभ्यास से जिसे समझ पाता है, वह ब्रह्म 'मैं' ही है। यों देह, मन, प्राण, मेधा आदि त्यागते जाने याने देह नहीं है, मन नहीं है इस प्रकार छोड़ते जाने से, अन्त में जो शेष रहता है वही ब्रह्म है; वह 'मैं' है। यही नेति-नेति का सिद्धान्त है। यह व्यतिरेक सिद्धान्त का तपस् है। भोग-त्याग लक्षण को ही जाग्रताजाग्रत लक्षण भी कहा जाता है। जीव तथा ब्रह्म के एकत्व को लक्षित करने वाला लक्षण भी यही है। 'तत्वमसि' इस महावाक्य का तात्पर्य यह है कि 'सोऽयं देवदत्त' (वही यह देवदत्त है) में जैसे देवदत्त को देखा जाता है वैसे ही उपरोक्त सिद्धान्त का भी प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। जीव पर ढके हुए आवरण को निकाल देने पर वही जीव परमात्मा के रूप में दर्शित होता है। ब्रह्म का सार ही आत्मा है (हृदयाकाश याने हृदय में स्थित प्राण वायु) तपस् माने इन्द्रिय निग्रह के द्वारा किये जाने वाली आराधना तथा दम माने मनोनिग्रह।

'मैं' का अर्थ सत्-चित्-आनन्द है। इस प्रकार अर्थ कर देने पर भौतिक शरीर कैसे 'मैं' बन सकता है?

मनुष्य अज्ञान के कारण ही भौतिक शरीर को ही महत्वपूर्ण 'मैं' रूपी परमात्मा समझ बैठते हैं। यह अज्ञान ही अनेक जन्म तथा सुख दुःखों का कारण है। ज्योंही 'मैं' का अनुभव विवेक किया जाता है, त्योंही आत्मज्ञान हो जाता है। आत्म साक्षात्कार के लिए इन्द्रिय निग्रह, देहासक्ति का निर्मूलन तथा सत्य का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। शाश्वत ब्रह्म ही बुद्धि का वृहस्पति है। मन का मन, कान का कान, आंखों की आंख आदि सब का एक स्वयं प्रकाश भी है। उसके तेजस से ही अन्य सब कुछ प्रकाशित होते हैं। सम्पूर्ण परमात्मा ही सबका आधार है। ब्रह्म मन में ज्ञान के रूप में स्थित है। मन तथा बुद्धि समस्त इन्द्रियों से आकृत है। उस ब्रह्म के बिना मन तथा बुद्धि अपने अपने कार्य कर नहीं पाते। वे उसी से निकलते हैं तथा उसी में विलीन हो जाते हैं। जैसे घास भूमि से उत्पन्न हो, भूमि में ही नष्ट हो जाती है, वैसे ही बुद्धि ब्रह्म से पैदा हो, ब्रह्म में ही नष्ट हो जाती है। जैसे लोहे को आग में रखने से वह आग का ही रूप-गुण धारण करता है तथा आग से निकाल कर जल में रखने से जल के ही संगति से ठण्डा पड़ कान्ति हीन हो जाता है, वैसे ही ज्ञान स्वरूपी परब्रह्म के संगति से बुद्धि भी ज्ञानमयी हो जाती है।

माता के गर्भ के शिशु की तरह जैस परमात्मा सर्वत्र आच्छन्न है। उस अव्यक्त तथा अगोचर परमेश्वर के सम्बन्ध में वे पामर लोग जो सांसारिक उलझनों में फँसे हैं, यह तर्क कर बैठते हैं कि यदि ईश्वर है, तो मुझे दिखाओ, तभी मैं विश्वास कर सकता हूँ; लेकिन यह असंभव है। भौतिक चक्षुओं से सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमेश्वर को देखना सम्भव नहीं हो सकता। अणुओं की क्रियाओं के अवलोकन के लिए भी तो अत्यन्त शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शिनी माइक्रॉस्कोप की

सहायता की आवश्यकता होती है न? वैसे ही परमात्मा को देखने के लिए ज्ञानचक्षु या प्राणचक्षु की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके द्वारा ही उसे देखा जा सकता है। सर्प आदि कोई जन्तु तुम्हें डंस ले, तो क्या उससे होने वाली व्यथा तुम दूसरों को ज्यों का त्यों दिखा सकते हो, बता सकते हो? जो मिठाई तुम खाते हो, उसकी मिठास क्या दूसरों को बता सकते हो? प्रेम, करुणा, सद्गुण, विश्वास आदि को क्या ये आंखें देख सकती हैं? नहीं देख सकती हैं न? जो प्रेम हृदय में है, उसे क्रिया कलापों में संकेत से, कथन या मुख की आकृति के द्वारा बाहर व्यक्त करने पर ही कोई यह अनुमान कर सकता है कि यह व्यक्ति प्रेम करता है। इसी प्रकार दिव्य ब्रह्म है कि नहीं, इस सत्य को समझने के लिए उस ब्रह्म की सृष्टिकलाप पर दृष्टिपात कर विचार करना पड़ता है, अतः सृष्टि, दिव्यज्ञान, दैवि-सम्पदा, प्राकृति सौन्दर्य आदि के आधार पर सृष्टिकर्ता का श्रेष्ठत्व समझ लिया जाता है तथा उसकी खोज कर परिचय प्राप्त किया जाता है। यह केवल ज्ञानचक्षु अथवा प्रेमचक्षु से ही समझा जा सकता है; अतः ज्ञानचक्षु अथवा प्रेमचक्षु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। तभी सर्वत्र अतिसूक्ष्म रूप में रहने वाले शाश्वत ब्रह्म का दर्शन किया जा सकता है।

जैसे ईख के रस में शक्कर व्याप्त है तथा शक्कर में मिठास व्याप्त है वैसे ही परमात्मा इस संसार में सर्वत्र व्याप्त है। परमात्मा ही प्रत्येक प्राणी की अन्तरात्मा है, जो सर्वत्र व्याप्त रहने के गुण से युक्त है। इसी कारण उसे जान लेना कठिन है। आत्मा, रूप रहित अमृत है। यह अतनु याने शरीर रहित है, इसीलिए पुरुष कहा जाता है। जब देह का विचार नहीं रहता तब शुद्ध अन्तःकारण में लीन होना साध्य हो पाता है। अन्तःकरण में लीन हो जाना ही शाश्वतानन्द है, उन्नत प्रशान्ति है। इस अवस्था में उत्कृष्ट विज्ञान सुलभ हो जाता

है। इस अवस्था को प्राप्त हो जाने पर ही साधक जनम-मरण रहित हो विमुक्त हो जाता है। 'देह' शब्द 'दह्' धातु से उत्पन्न है। 'दह' का अर्थ होता है जलना। सामान्यतः मरणान्तर 'देह' को जलाया जाता है, परन्तु ज्ञानी के अनुसार शरीर तीन होते है— कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा भौतिक शरीर। ज्ञानी लोग इन तीनों शरीरों को हृदयकाष्ठ से जला देते हैं याने अपने ही अध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन तीनों हृदयकाष्ठ से अपने कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा भौतिक शरीर को अग्नि से भी अधिक जल्दी जला डालते हैं। सामान्यतः मनुष्य जैसा जैसा विचार करता है, वैसा ही वैसा बनता जाता है। देह का ध्यान रखने वाले मूर्ख ही बने रहते हैं; सत्-चित्-आनन्द रूपी 'मैं' पर को ध्यान रखते हैं, वे स्वयं दैवस्वरूपी बन जाते हैं। ये लोग न तो अपने मास-पिण्ड वाले भौतिक शरीर, सूक्ष्म शरीर या कारण शरीर पर ही अभिमान रखते हैं, न अपने प्राण का ही मोह रखते हैं। आत्मा को ही परमात्मा मानना चाहिए; तभी शाश्वत आनन्द उपलब्ध होगा। कष्ट— सुख दुःख, भलाई-बुराई आदि मन को ही होते हैं; न कि तुम्हें। तुम न तो कर्ता हो, न भोक्ता ही हो। तुम स्वतन्त्र हो; धर्म— सद्गुण, 'अधर्म— दुर्गुण आदि केवल मनोभावनाएं हैं। अतः हृदय से लगे पाश को साधक ज्यों ही तोड़ कर फेंक देता है, त्यों ही शाश्वत ब्रह्म को प्राप्त कर लेता हैं। रेशम के कीड़े जैसे अपने ही तन्तुजाल में (कोए में) फंस जाते हैं, वैसे ही मानव अपनी इच्छा अभिलाषाओं में ही अपने आप उलझ कर सांसारिक दुःख भोगता हैं। आत्मा असंसारी है। उसका स्वभाव परित्रतम है। सन्देह ज्ञान का शत्रु है, अज्ञान की वह सन्तान है। जहाँ 'मेरा' अहंभाव नहीं है, वहाँ ही मुक्ति है; जहाँ 'मैं' का अहं है, वहाँ ही बन्धन है। मानव को बन्धन में डालने वाले ये ही हैं; आत्मज्ञान की प्राप्ति में तीन प्रकार के प्रतिबन्ध हैं— भूतकालीन प्रतिबन्धन,

वर्तमान कालीन प्रतिबन्धन तथा भविष्यकालीन प्रतिबन्धन। इन्हें योग्य रीति से दूर करना चाहिए। जीवनमुक्त इन तीनों की चिन्ता नहीं करता। दृष्टा, दृश्य तथा दृष्टि इन तीनों में भेद न देखने वाला होता है। इन्हें बुद्धि की उपज समझ कर मिथ्या मानता है। इन भेदों से अप्रभावित हो समैक्यता बुद्धि के साथ सर्वान्तरयामी स्वयं प्रकाश परमात्मा के ध्यान में लग जाता है। त्रिपुटि मन का भ्रम है। त्रिपुटि का भ्रम रहित साधक जीवमुक्त है। वह जीवनमुक्त जहाँ भी देखता है, वहाँ केवल ब्रह्मकार को ही साक्षात्कार करता है।

॥ श्री ॥

Library IIAS, Shimla
H 294.14 Sa 21 U
00097937

मूल्य : 11 रुपये